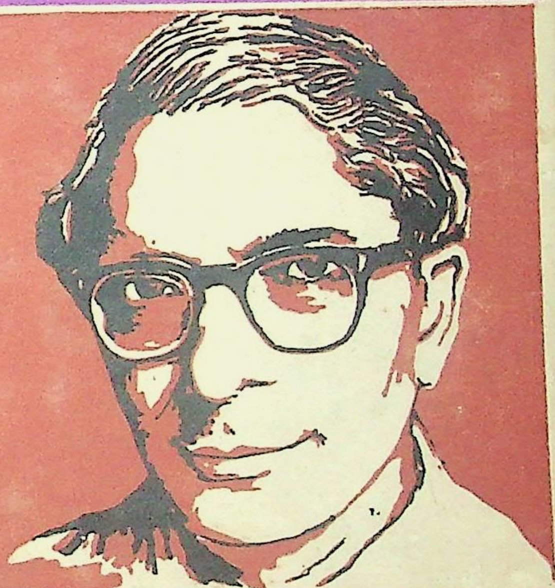
उपेन्द्रनाथ अश्क

मेरी प्रिय कहानियाँ



उपेन्द्रनाथ अश्क हिन्दी के जाने-माने कथाकार, नाटककार, कवि और आलोचक हैं। उन्होंने पुराने ढंग की कहानियों से लेकर आधुनिक ढंग की कहानियों तक सभी प्रकार की डेढ़ सौ से ऊपर कहानियां लिखी हैं, जिनमें से अनेक समय-समय पर बहुचर्चित भी हुई हैं। ये पाठक के ऊपर एक गहरा प्रभाव छोड़ जाती हैं।

प्रस्तुत संकलन में उनकी अपने द्वारा चुनी हुई कहानियां तो हैं ही, कहानी के समान ही पठनीय भूमिका भी है, जो उनके विकास-क्रम पर मनोरंजक प्रकाश डालती है।

मूल्य : पांच रुपये

मेरी प्रिय कहानियां / उपेन्द्रनाथ अश्क



एक ही शैली या शिल्प में लिखना
मुझे कभी प्रिय नहीं रहा
मेरा मस्तिष्क निहायत क्रियाशील
और मेरा मन अत्यन्त चंचल है
'डाची' से पहले की कहानियों में
तीन-चार रंग स्पष्टत: दिखाई दे जाएंगे
उसके बाद मैंने जो कहानियां लिखीं
उनमें भी तीन रंगों की कहानियां हैं
...कहानियां, जिनमें अनुभूति के संस्पर्श के साथ
कल्पना की प्रचुरता और शिल्प का गठाव है
...कहानियां, जिनमें शिल्प का बिखराव है
जो लघुतम उपन्यासों जैसी हैं
लेकिन जिनमें गहराई भी है
...कहानियां, जो शुद्ध हास्य की सृष्टि के लिए लिखी गईं
इस संकलन के लिए कहानियां चुनते समय
मैंने पिता की दृष्टि से अधिक काम लिया है
और वे कहानियां भी चुनी हैं जिन्हें मैंने अन्यमनस्क
ढंग से सृजा पर जो लोकप्रिय हो गईं





राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली-६

उपेन्द्रनाथ अश्क

मेरी प्रिय कहानियाँ

पहला संस्करण ■ १९७० ■ मूल्य पांच रुपये

मेरी प्रिय कहानियां ■ कहानी-संकलन
लेखक ■ उपेन्द्रनाथ अश्क ©
प्रकाशक ■ राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६
मुद्रक ■ रूपक प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२

भूमिका

अपनी प्रिय कहानियों की बात सोचता हूं तो सबसे पहले मेरी आंखों में अपनी वह पहली कहानी घूम जाती है, जिसका नशा दो-एक वर्ष मुझपर छाया रहा था। जैसा कि मैंने अपने किसी संस्मरण में लिखा है, उन दिनों मैं शायद नवीं क्लास में पढ़ता था और बड़े ज़ोरों से ग़ज़लें लिखता था। कई बार दिन में दो-दो ग़ज़लें हो जातीं। लेकिन मेरे उस्ताद, जो प्रकट ही हुस्न-परस्त थे, मेरे सुन्दर हमजोली 'अख़्तर' की ग़ज़ल तो न केवल तत्काल देखकर दे देते, वरन् अपनी ओर से कुछ शे'र भी उसमें जोड़ देते, लेकिन मेरी ग़ज़ल को (कि स्कूल के दिनों में मेरे चेहरे पर ख़ासी यतीमी बरसती थी) जाने किस ताख में रखकर भूल जाते और हफ़्ता-हफ़्ता-भर उसकी सनद न देते। सितम यह है कि कई बार मैं 'अख़्तर' को जो ग़ज़ल लिखकर देता, वह ठीक होकर आ जाती, और मेरी गुलदस्ता-ए-ताक़े-निस्यां[1] बनी पड़ी रहती। चूंकि उन दिनों लिखने का कुछ जुनून-सा दिल-दिमाग़ पर तारी था, इसलिए दो-एक बरस बाद ही मैंने तय किया कि मैं ग़ज़ल-वज़ल लिखना छोड़कर कहानियां लिखूंगा, जिन्हें न किसीको दिखाने की ज़रूरत पड़े, न किसीसे सलाह लेने की। और मैंने एक कहानी लिखी—'अहदे गुज़श्ता की याद!' कहानी उर्दू में थी, क्योंकि उस समय पंजाब में हिन्दी का नाम भी नहीं था। कहानी यूं शुरू होती है :

"याद हैं वो दिन, जब सुबह के वक़्त इधर आफ़ताब अपनी सुनहरी

---

१. भूल के ताक़ का गुलदस्ता

किरणों से सारे जहान को रोशन कर देता, उधर तू अपनी चांद-सी सूरत लिए, सिर पर घड़ा उठाए, नाज़ो-अदा से कुएं पर जाती। मैं तुम्हें उल्फ़त से देखता, हां···हां···मुहब्बत से देखता।"

इस कहानी का 'मैं' एक देहाती युवक है, जो अपने गांव की एक लड़की से प्रेम करता है। जब वह कुएं पर घड़ा भरने जाती है, तो वह कहीं छिपकर उसके दरस से अपनी आंखों की प्यास वुझाता है। लड़की भी उसकी ओर आकर्षित होती है। उसे दरस का ही नहीं, परस का भी सौभाग्य मिलता है, लेकिन क्षुद्र नियति को (वहां तो शब्द फ़लके-नाहंज़ार है) चूंकि प्रेमियों का मिलन-सुख एक आंख नहीं भाता, इसलिए उसकी प्रेयसी की सगाई उसके प्रतिद्वन्द्वी से हो जाती है। प्रेयसी ऐन शादी के दिन अपने सीने में छुरा भोंक लेती है और मरते-मरते अपने प्रेमी से कहती है कि वह स्वर्ग में उसकी प्रतीक्षा करेगी। प्रेमी वह छुरा लेकर चला आता है। कहानी यूं ख़त्म होती है :

"मैं सोया। आवाज़ आई—'जन्नत में आपकी मुन्तज़र रहूंगी।' घबराकर उठा। हवा का एक झोंका आया। उसकी सरसराहट में वही अल्फ़ाज़ सुनाई दिए—'जन्नत में आपकी मुन्तज़र रहूंगी।'—मुझे नाउम्मीद न होना चाहिए। मेरी प्यारी जन्नत में मेरा इन्तज़ार कर रही है। दे खंजर। ऐ मेरी प्यारी के क़ातिल खंजर! आ—आ और मेरे सीने में दूर तक डूब जा! और मुझे भी वहीं पहुंचा दे जहां···"

और कहानी खतम हो जाती है।

आज भले ही अपनी उस पहली कहानी को पढ़कर हंसी आए, पर तब मैं इसके शब्द-शब्द पर न्यौछावर था। 'अख़्तर' उन दिनों गवर्नमेंट स्कूल में पढ़ता था और मैं डी० ए० वी० स्कूल में, लेकिन चूंकि उस्ताद एक ही थे, इसलिए रोज़ मिलते थे और एक साझे मित्र के यहां बैठते थे। मुझे उस मित्र का नाम याद नहीं। केवल क़िला मुहल्ला जालन्धर के एक दोतल्ले पर उस कमरे की याद है, जिसमें हम दोपहर काटते थे। मित्र बड़ी-बड़ी सख्त, लेकिन रस-भरी नाशपातियां ले आता था। उन्हें छील-काटकर, उनमें खूब मिर्च-मसाला देकर, उनमें खट्टे निचोड़ देता था और

हम चटखारे लेकर खाते और शे'र-ो-शायरी में मशगूल हो जाते। मुझे याद है 'अहदे गुज़श्ता की याद' खत्म कर, मैं दूसरे ही दिन वहां पहुंचा और मैंने मित्रों को कहानी सुनाई तो वे फड़क उठे। 'अख़्तर' ने कहा, "आओ हम इसे नज़्म करें।" और लगभग सप्ताह-भर के श्रम से हमने उसे पद्य में बांध दिया। मसनवी की तरज़ रखी। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि उसपर अधिकांश श्रम मैंने ही किया। जब कहानी नज़्म हो गई तो 'अख़्तर' ने उसे बड़े सुन्दर अक्षरों में कापी किया और उसे उस्ताद साहब के पास ले गया। उन्होंने हफ़्ते-भर में न केवल उसकी इस्लाह कर दी, वरन् दसियों शे'र उसमें जोड़ दिए। तब हमने वह कहानी साप्ताहिक 'गुरु घण्टाल' को भेज दी (उन दिनों पंजाब के साप्ताहिक पत्रों में उसीकी तूती बोलती थी)। मुझे ज़रा भी आशा न थी कि इतनी लम्बी पद्य-बद्ध कहानी 'गुरु घण्टाल' जैसे प्रसिद्ध साप्ताहिक में छप जाएगी। लेकिन दूसरे या तीसरे हफ़्ते ही 'गुरु घण्टाल' का विशेषांक आया और उसके एक पूरे पृष्ठ पर वह कहानी 'अख़्तर' के नाम से छपी थी।

जैसा कि मैंने कहीं लिखा है, उस रात मैं एक पल को भी नहीं सो पाया। मेरी मां ने मेरे सिर में दो-एक बार ख़शख़ाश का तेल भी लगाया, मेरी कनपटियां भी सहलाईं, पर जब रात के पिछले पहर उनकी नींद टूटी और उन्होंने मुझे जगते पाया, तब उन्होंने चिन्ता-भरे स्वर में पूछा, "क्या बात है बेटे, तू सो क्यों नहीं रहा?" मैंने कहा, "मैं क्या बताऊं, तुम समझ नहीं पाओगी।"

अपनी उस रात की अनिद्रा और बेचैनी मुझे आज भी याद है। कभी मुझे 'अख़्तर' पर ग़ुस्सा आता कि जब कहानी भी मेरी थी और उसे पद्य-बद्ध करने में श्रम भी ज़्यादा मैंने ही किया था तो उसने अपने साथ मेरा नाम उसपर क्यों नहीं दिया। कभी मुझे अपने ऊपर ग़ुस्सा आता कि जब हम कहानी को नज़्म करने बैठे थे तभी मैंने क्यों शर्त नहीं रखी कि यह कहीं छपेगी तो इसपर मेरा नाम भी जाएगा। मुझे पूरा विश्वास है कि मैं ज़ोर देता तो 'अख़्तर' मान जाता। लेकिन मैं हीन-भाव से ग्रसित था। शायद मुझे डर था कि नज़्म पर मेरा नाम देखकर उस्ताद साहब उसकी इस्लाह ही स्थगित न कर दें। फिर मुझे यह यक़ीन ही नहीं था कि कहानी

'गुरु घण्टाल' में छप जाएगी ।···कभी मुझे अपने उस्ताद पर गुस्सा आता कि यदि वे मेरी रचनाएं उसी उत्साह से देख देते, जिससे वे 'अख़्तर' की देखते थे तो मुझे उसके सहारे की ज़रूरत ही क्यों पड़ती । यह अजीब बात है कि मुझे 'गुरु घण्टाल' के सम्पादक पर भी क्रोध आता कि उसने वह रचना क्यों छापी, लौटा क्यों नहीं दी ?···आज उस रात की बात सोचता हूं तो अपनी वह अनिद्रा, बेचैनी और तर्कातीत क्रोध मूर्तिमान होकर मेरे सामने आ जाता है । ऐसा क्रोध और ऐसी ईर्ष्या मुझे ज़िन्दगी में फिर कभी नहीं हुई । अगर वह कहानी और कविता 'अख़्तर' की अपनी होती तो शायद न मुझे ईर्ष्या होती न क्रोध, मुझे सिर्फ़ रश्क होता, और मैं उससे बेहतर लिखने की कोशिश करता, क्योंकि मेरे पिता कहा करते थे कि हसद (ईर्ष्या) केवल कमज़ोर और अक्षम लोग करते हैं । शक्तिशाली केवल रश्क करता है । वह दूसरे की अच्छी रचना से जलता नहीं, उससे बेहतर लिखने का प्रयास करता है । लिखकर दिखा देता है ।···लेकिन वह कहानी तो मेरी थी और कविता पर श्रम भी मैंने ही ज़्यादा किया था । इसीलिए मुझे ईर्ष्या भी थी और क्रोध भी ।

बहरहाल 'गुरु घण्टाल' में उस पद्यकथा के छपने से मुझे बड़ा लाभ हुआ । मेरा हीन-भाव एकदम मिट गया । मुझे विश्वास हो गया कि मेरी रचनाएं भी छप सकती हैं । अपनी सत्ता मनवाने को वह कहानी मैंने अपने से उम्र में बड़े, अपने एक अन्य उस्ताद भाई श्रीअमरचन्द 'क़ैस' की मदद से लाहौर की एक लघु मासिक पत्रिका 'सत्य सिंगार' में छपवाई और फिर एक बरस बाद उस मुश्किल नाम के बदले एक हल्का-सा नाम 'याद हैं वो दिन' देकर मासिक 'मानसरोवर' में । शायद वह और भी दो-एक परचों में छपी, और उन दोनों पत्रिकाओं के तराशे आज भी मेरी फ़ाइल में मौजूद हैं ।

'याद हैं वो दिन' अपनी तमाम अनगढ़ता, अविश्वसनीयता, कच्चेपन और हास्यास्पदता के बावजूद, किसी मां की जेठी संतान की तरह मुझे आज भी प्रिय है ।

लेकिन मेरी वह प्रिय कहानी प्रस्तुत संग्रह में नहीं है, क्योंकि मैंने

संकलन की कहानियों के चुनाव में मां की दृष्टि से ही काम नहीं लिया, पिता की दृष्टि का भी खयाल रखा है और पिता के मान-दण्ड मां से भिन्न होते हैं।

साधारण लेखक की दृष्टि प्राय: मां-सरीखी होती है और अपनी संतान के प्रति मां का प्यार तीन रूप लेता है :

- मां को अपना हर बच्चा प्यारा होता है, सुन्दर हो चाहे कुरूप। साधारण लेखक को भी अपनी हर रचना प्यारी लगती है, नीकी हो चाहे फीकी।

- मां को सुन्दर और सफल बच्चे के प्रति उतनी ममता नहीं होती, जितनी कमज़ोर, बीमार, अपाहज अथवा असफल के प्रति। लेखक के मन में भी अपनी असफल रचनाओं के प्रति एक अजाना मोह होता है। जिस रचना को दुनिया मानती है कई बार वह उसे नकार जाता है और जिसे दुनिया अस्वीकार कर जाती है, उसे गले से लगाए घूमता है।

- हर नई रचना मां को अभिभूत कर जाती है और वह उसके गुण गाती नहीं थकती। लेखक का भी यही हाल है। वह जितना ही रचना के निकट होता है, उतना ही उसके दोषों के प्रति अनभिज्ञ। जिन लोगों ने प्रेमचन्द के पत्र अथवा भिन्न-भिन्न समयों पर दिए गए वक्तव्य पढ़े हैं, उन्होंने मार्क किया होगा कि जब-जब प्रेमचन्द से उनकी उत्कृष्ट दस-बारह कहानियों के नाम पूछे गए, उन्होंने हमेशा अपनी नई कहानियां उनमें जोड़ दीं।

लेकिन अपनी संतान के प्रति पिता का दृष्टिकोण भिन्न होता है। मां की तरह अपने हर लड़के से उसे प्यार नहीं होता और न वह उसके अवगुणों को अदेखा कर पाता है। पिता को अपने उस बच्चे से विशेष स्नेह होता है, जिसे वह अपनी इच्छा अथवा महत्त्वाकांक्षा के अनुरूप ढालता है और यदि वह अपने उस प्रयास में सफल रहता है तो वह उसपर उचित ही गर्व भी करता है। लेकिन कई बार ऐसा भी होता है कि कोई बच्चा, जिसे पिता नकार देता है अथवा जिसे पैदा करके अपने हाल पर छोड़ देता है, पिता की तमाम अन्यमनस्कता के बावजूद नाम कमा लेता है। तब पिता उसे स्वीकार लेता है और उसपर भी वैसे ही गर्व करता है, जैसे उसकी

सफलता और ख्याति में उसीका हाथ हो।···और जैसा कि मैंने कहा, प्रस्तुत संकलन की कहानियों में मैंने मां के साथ-साथ पिता का दृष्टिकोण भी अपनाया है। इसलिए न केवल इस संग्रह में मेरी वह पहली प्रिय कहानी नहीं, वरन् और भी कई ऐसी कहानियां नहीं हैं, जो मुझे समय-समय पर प्रिय रही हैं और कुछ वे भी, जो मुझे आज भी प्यारी हैं। फिर वे कहानियां भी यहां संकलित हैं, जिन्हें मैंने अन्यमनस्कता से सृजा, पर जो अपने-आप ख्यात हो गईं और आज भी जिनकी प्रसिद्धि में कमी नहीं आई। चूंकि वे भी मैंने ही सिरजी हैं, इसलिए मुझे उनपर वजा तौर पर गर्व है।

लेकिन इससे पहले कि मैं प्रस्तुत संकलन की चर्चा करूं मैं उन कहानियों का उल्लेख करूंगा जो मुझे प्रिय रही हैं अथवा मुझे प्रिय न होने पर भी लोकप्रिय हुई हैं।

'अहदे गुज़श्ता की याद' के बाद मैंने लगभग दस वर्ष, किसी आन्तरिक अनुभूति के बिना, लगातार कहानियां लिखीं। एक जोश था जो दिमाग़ में उफनता और क़लम के रास्ते काग़ज़ पर उतरता रहता था। कला-शिल्प और सोच-समझ को उसमें ज़्यादा दखल नहीं था। मेरे दिमाग़ की अत्यन्त भावप्रवण और अतिरिक्त सक्रिय नसों के कारण उस जोश में तो आज भी ज़रा कमी नहीं आई, लेकिन उन आरम्भिक दस वर्षों के बाद न जाने कितनी सोच-समझ, कला-शिल्प का कितना ज्ञान, कितना संयम और अपने उद्देश्य के प्रति कितनी जागरूकता उस जोश के साथ आ मिली है। उन आरम्भिक दस वर्षों में मैंने पचास-साठ के क़रीब कहानियां लिखीं। लेकिन उनमें से दस-पन्द्रह ही केवल हिन्दी में छपीं, शेष चालीस-पचास के उर्दू तराशे अभी तक मेरी फ़ाइलों में पड़े हैं—उनमें से अधिकांश दैनिक समाचारपत्रों के रविवासरीय अंकों में छपीं। कुछ साप्ताहिकों में और चन्देक मासिक पत्रों में। उनमें मुझे कोई भी प्रिय नहीं रही, ऐसी बात नहीं। 'अहदे गुज़श्ता की याद' के बाद, शायद एक-डेढ़ वर्ष के अंतर पर, मैंने एक कहानी लिखी 'सीरत की पुतली उर्फ वावफा बीवी'। वह दैनिक

'प्रताप' के संडे एडीशन में छपी और बाद में एक स्त्रियोपयोगी स्थानीय पत्रिका में उद्धरित हुई। स्त्रियों की गुप्त बीमारियों का इलाज करनेवाली एक लेडी डॉक्टर, कुमारी सत्यवती ने (जो बाद में लाहौर, शिमला, और विभाजनोपरान्त दिल्ली में प्रसिद्ध हुई और जिन्होंने विज्ञापनबाज़ी में कविराज हरनामदास के कान काट दिए) उन दिनों जालन्धर में अड्डा होशियारपुर पर नया-नया क्लिनिक खोला था और वहां से स्त्रियोपयोगी कोई मासिक पत्रिका निकालती थीं। कुमारी सत्यवती के साथ भगवे कपड़े पहने एक सुन्दर, संभ्रान्त सिक्ख रहते थे—जो जाने सिक्ख थे, या कोई संन्यासी—पर थे बड़े मृदुभाषी! कैसे मेरा उनसे परिचय हुआ, मैं नहीं जानता। उनका नाम भी मुझे याद नहीं, लेकिन सूरत उनकी अब भी मेरे मानस पर अंकित है। मैंने उन्हें कहानी सुनाई—और उन दिनों मैं बड़े जोश से अपनी कहानियां सुनाया करता था—उन्होंने बड़ी प्रशंसा की और कहा कि वे उसे अपनी पत्रिका में उद्धरित करेंगे। शीर्षक से केवल 'बावफा बीवी' काट दिया गया। 'सीरत की पुतली' छप गई, तो मैं पत्रिका लेकर न जाने किस-किसको दिखाता फिरा। छपी हुई कहानी का किसी दूसरी पत्रिका में उद्धरित हो जाना मेरे निकट उसके मास्टरपीस होने की सनद था और मैंने घोषणा कर दी कि मैंने मास्टरपीस कहानी लिखी है।

आज अपनी उस मास्टरपीस कहानी को पढ़ता हूं तो बेइख्तयार हंसी आती है। कहानी अजीब हास्यास्पद ढंग से शुरू होती है :

"दुनिया में हमेशा दो विरोधी शक्तियां काम करती हैं—एक उत्थान, दूसरी पतन! कल जो व्यक्ति उत्थान के सातवें आसमान पर अपना सिर उठाए शान-शौकत और धन-वैभव में अपना सानी न रखता था, आज वही पतन के गहरे सागर में ग़ोतें खाता हुआ दिखाई देता है। कल जो फूल किसी सम्राज्ञी की सेज को सुशोभित करता हुआ बिजली की रोशनी में चमकता था, आज वही मुरझाकर अमीर-ग़रीब के पैरों तले रौंदा जाता है। कल जो जलयान सागर तल पर···'

पै-दर-पै ऐसी ही उपमाओं से भरा हुआ फ़ारसीनिष्ठ उर्दू में लिखा काफ़ी लम्बा पैरा, जिसके अंत में कहानी की नायिका देवी को दो पंक्तियों में यूं इन्ट्रोड्यूस किया गया है—"कल जो देवी बिस्तर के नीचे भी पांव

रखना पसन्द न करती थी, आज वही जंगलों की ख़ाक छानती फिर रही है।"

दूसरे पैरे में देवी के उन दिनों का सविस्तार उल्लेख है, जब उसकी आवाज़ के आगे बुलबुल अपना गीत अलापना छोड़ देती, उसकी आंखों की चंचलता को देखकर नरगिस शरमा जाती उसके गुलाबी होंठों के सामने सोसन पानी भरता और न जाने ऐसा क्या-क्या होता···

और इतनी लम्बी भूमिका के बाद देवी की कहानी सिर्फ़ इतनी है कि बिहारीलाल नाम का कोई युवक उसपर मरता है। वह भी उसे चाहती है और सारी दुनिया को उनसे ईर्ष्या है। लेकिन दोनों की सगाई हो जाती है, फिर शादी। विवाह के छः महीने बाद ही देवी की मां मर जाती है, फिर सास-ससुर चल बसते हैं। लोग उसे राक्षसी कहते हैं। मां-बाप की छाया उठ जाने से बिहारीलाल कुटेवों में पड़ जाता है। खूब पीता है और देवी को पीटता है। उसका घर-द्वार बिक जाता है। और वही देवी जो मख़मल के बिस्तर पर सोती थी, कुटिया में रहने को विवश होती है। बीमार और लाचार!

तभी एक रात बिहारीलाल खूब पिए हुए आता है। बीमार देवी को ज़ोर की लात जमाता है और ख़ुद गिरकर बेहोश हो जाता है। उसे सरसाम (टायफायड) हो जाता है। वह धीरे-धीरे मरणासन्न हो जाता है। पतिपरायणा देवी अपनी बीमारी की परवा न कर, उसका इलाज-उपचार और सेवा-सुश्रूषा करती है और अपने पति को मौत के मुंह से बचा लेती है। बिहारीलाल पश्चात्ताप करता है और आंखों में आंसू भरकर कहता है—"देवी, तू सीरत की पुतली है!" और बुलबुल का गीत और गिरजाघर का घण्टा, हवा के झकोरे और नदी की कल-कल—सब उसकी आवाज़ को प्रतिध्वनित करते हैं।

और इतनी-सी कहानी में एक से एक अनोखे और नादिर (हास्यास्पदता की दृष्टि से) वाक्य और पैरे हैं। अन्त उसका और भी दिलचस्प ढंग से यूं होता है :

"पांच वर्ष बाद हमारा गुज़र फिर उसी तरफ़ होता है। उस झोंपड़ी की जगह एक खूबसूरत बाग़ दिखाई देता है। हम बेझिझक उसमें चले

जाते हैं। देखते हैं कि बाग़ के दरम्यान एक आलीशान इमारत खड़ी है और उसकी सीढ़ियों पर एक आया छोटे-से बच्चे को खिला रही है। पूछने पर पता चलता है कि यह बिहारीलाल की आंख का तारा और देवी का प्यारा है। हम उसे दुआ देते हैं और यह कहते हुए चल पड़ते हैं:

जहां वालो अगर तस्वीरे-उल्फ़त हो तो ऐसी हो
अगर बीवी को शौहर से मुहब्बत हो तो ऐसी हो
प्रभो, सन्तान के बदले न यूं जंजाल पैदा कर
अगर पैदा ही करने हों तो ऐसे लाल पैदा कर!"

और मैं दो-तीन बरस तक ऐसी ही मास्टरपीस कहानियां लिखता रहा। तभी जब मैं थर्ड ईयर में पढ़ता था और मेरा पहला कथा-संग्रह 'नौ रत्न' छपा, मैंने एक ऐसी कहानी लिखी, जिसमें सचमुच कहानी के बीज हैं, जिसे मैं अपनी पहली सफल कहानी का नाम दे सकता हूं और जिसकी प्रशंसा किसी साहित्यिक ने भी की।

मेरे उस्ताद भाई अमरचन्द 'क़ैस' तब लाहौर दैनिक मिलाप में काम करते थे। उनके परिवार में कुछ ऐसी घटना हुई कि उन्हें नौकरी छोड़कर एक लम्बे मुकदमे के सिलसिले में जालन्धर रहना पड़ा। तब उनके साथ रोज़ का उठना-बैठना, सुनना-सुनाना होता था। 'क़ैस' बड़ी आसानी से शे'र कह लेते थे। मौलिकता और अनुभूति की उनके यहां कमी थी। लेकिन किसी उस्ताद की ग़ज़ल देखकर उसी ज़मीन में दस-बीस शे'र कह देना उनके बायें हाथ का काम था। एक बार उन्होंने प्रस्ताव किया कि वे मेरे नाम से कुछ ग़ज़लें चुस्त कर देते हैं, और मैं बदले में दो-एक कहानियां लिख दूं, जिन्हें अपने नाम से देकर वे सम्पादक मित्रों के तगादों से मुक्ति पाएं। मुझे न किसीके द्वारा रची हुई चीज़ पर अपना नाम देना पसन्द था और न अपनी रचना पर दूसरे का नाम देखना।...लेकिन 'क़ैस' जल्दी हार मानने वाले न थे। उन्होंने एक निवाड़-फ़रोश साहित्य-प्रेमी को फंसाया, मुझे उनसे मिलाने ले गए। मेरी कहानियों की प्रशंसा में ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाए और उन्हें तैयार कर लिया कि वे मेरे कथा-संग्रह के लिए काग़ज़ ले दें। 'क़ैस' ही ने यह भी तय किया कि संग्रह में

नौ नई कहानियां रहें और उसका नाम 'नौ रत्न' रखा जाए और उन्होंने यह भी पेशकश की कि उसकी भूमिका वे नज़्म में लिख देंगे।

इसी कहानी-संग्रह के नाम से प्रेरणा पाकर मैंने एक कहानी लिखी, 'तालिबे-अम्न' जो मेरे पहले कथा-संग्रह 'नौ रत्न' में संकलित हुई और बाद में 'चैन का अभिलाषी' नाम से हिन्दी में भी छपी। इस कहानी की प्रशंसा सुदर्शन जी ने की और इसीके माध्यम से मेरा उनसे सम्पर्क हुआ। पर तब जिस संग्रह में नौ कहानियां छपनी थीं, उसमें पांच ही छप पाईं, क्योंकि जितना काग़ज़ उन नौ कहानियों के लिए दरकार था, उतना उन निवाड़-फ़रोश महोदय ने लेकर नहीं दिया। अमरचन्द 'क़ैस' ने उस संग्रह के लिए एक पद्य-बद्ध भूमिका लिखी, जिसमें मेरी लेखनी के शिल्प और शैली और मेरे विचारों की उच्चता और गहनता की तारीफ़ करते हुए उन पांचों कहानियों की भरपूर प्रशंसा की। जो चार कहानियां बच गईं, उनमें से दो वे अपनी मेहनत के बदले में उड़ा ले गए और वे उनके नाम से एक स्थानीय साप्ताहिक में छपीं।

मेरे मन में कभी उनके लिए बड़ी श्रद्धा थी। लेकिन उनकी उस हरकत से मेरी वह श्रद्धा एकदम उड़नछू हो गई और मुझे लगा कि यह आदमी कभी कुछ नहीं बन सकेगा। केवल स्थानीय ख्याति पाकर रह जाएगा। 'क़ैस' आज भी जीवित हैं और आज भी दसियों चेले-चांटे बनाए घूमते हैं, वैसी ही अनुभूति-शून्य मशीनी ग़ज़लें लिखते हैं, जो दिल के किसी तार को नहीं छूतीं।

बी० ए० पास करके मैं लाहौर चला गया। वहां मैं दैनिक 'भीष्म' में हर सप्ताह वैसी ही अनुभूतिहीन, काल्पनिक कहानियां लिखता था कि एक दिन सुदर्शन जी से भेंट हो गई। मैंने उन्हें 'चैन का अभिलाषी' सुनाई। उन्होंने दाद दी और अपने मासिक 'चन्दन' के लिए कहानी लिखने को कहा और मैंने उनके लिए 'औरत की फ़ितरत' लिखी। मैं उस कहानी के सन्दर्भ में 'सत्तर श्रेष्ठ कहानियां' की भूमिका में विस्तार से लिख चुका हूं—किस प्रकार उसकी चर्चा और प्रसिद्धि हुई, कैसे प्रेमचन्द ने उसकी प्रशंसा की और जब उसी नाम से मेरी कहानियों का दूसरा संग्रह

छपा तो उन्होंने उसकी भूमिका भी लिखी। वह कहानी हिन्दी में 'नारी' अथवा 'नारी-हृदय' के नाम से शायद पहले 'माधुरी' में छपी थी, फिर 'पहेली' शीर्षक से मेरे कथा-संग्रह 'जुदाई की शाम का गीत' में।

हालांकि तब उस कहानी की काफ़ी चर्चा हुई, पर है वह भी नितान्त काल्पनिक और अविश्वसनीय। यह और बात है कि आज भी उसे पसन्द करने वाले मिल जाते हैं। पिछले दिनों बम्बई के एक प्रकाशक ने उसे पाठ्य-पुस्तक में संकलित किया। और मुझे अपनी उस आरम्भिक कहानी के २५०) मिल गए। उन दिनों सुदर्शन और प्रेमचन्द की प्रशंसा से मुझे जो खुशी हुई होगी, उसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

'औरत की फ़ितरत' और उसके साथ ही लिखी जाने वाली दो कहानियां—'तांगे वाला' और 'भिश्ती की बीवी' पर (जो चन्दन ही में छपीं, 'भिश्ती की बीवी' का अनुवाद रूसी भाषा में भी हुआ) प्रेमचन्द और सुदर्शन का प्रभाव था, पर तभी मैं ग़ैर मा'रूफ जरनलिस्ट (अख्यात पत्रकार) के प्रभाव में आ गया (उनका उल्लेख मैं 'सत्तर श्रेष्ठ कहानियां' की भूमिका में कर चुका हूं।) और मैंने कुछ काल्पनिक, लेकिन रूमानी कहानियां लिखीं। इनमें 'कुर्बान-गहेइश्क़' मुझे कभी बड़ी प्रिय थी। हिन्दी में पहले वह 'प्रेम की वेदी' के नाम से छपी, बाद में 'जुदाई की शाम का गीत' नाम से।

जब मैंने वह कहानी लिखी थी, तो मेरे मित्रों ने उसकी भरपूर दाद दी थी। हिन्दी में उसके छपने का इतिहास अत्यन्त दिलचस्प और किंचित् कटु है। यदि श्रीनाथसिंह मेरी वह कहानी मेरे फ़ोटो-ओटो के साथ बड़ी शान से सरस्वती में न छापी होती तो शायद मैं कुण्ठित होकर उर्दू की ओर ही पलट जाता और इस वक़्त कहीं फ़िल्मी दुनिया में अपने अन्य मित्रों की तरह झख मार रहा होता।

मैंने 'सत्तर श्रेष्ठ कहानियां' की भूमिका में इस प्रसंग की विस्तार से चर्चा की है। यह कहानी भी वर्षों मेरी प्रिय कहानी रही है। हिन्दी में ठाकुर श्रीनाथसिंह ने इसका नाम 'प्रेम की वेदी' दिया था। शायद मेरे संग्रह 'निशानियां' में यह इसी नाम से छपी थी, लेकिन जब 'नीलाभ

प्रकाशन' की स्थापना हुई, मेरी सब किताबें वहां से छपीं तो मैंने इसका नाम 'जुदाई की शाम का गीत' कर दिया। और इसीके अन्तर्गत अपनी उन रूमानी कहानियों को संकलित किया जो मैंने इसके साथ लिखी थीं। लगता है १९४८ तक इस कहानी के प्रति मेरे मन में मोह था।

लेकिन मेरी ये कभी की प्रिय कहानियां आज मुझे प्रिय नहीं हैं। जो कहानियां मुझे कभी प्रिय रही हैं, या जो आज भी प्रिय हैं, उनके संदर्भ में मेरे पास बड़े दिलचस्प संस्मरण हैं, लेकिन यदि मैं संस्मरण देने लगूंगा तो इस पुस्तक में कहानियों के लिए जगह नहीं रहेगी। इसलिए मैं अब संक्षिप्त रूप से सिर्फ अपनी प्रिय कहानियों का ही उल्लेख करूंगा और उनकी प्रेरणा, रचना-प्रक्रिया, शिल्प-शैली, आलोचना-प्रत्यालोचना की बात उतनी ज़्यादा नहीं करूंगा।

उन पचास-साठ कहानियों में, जो मैंने १९२६ से ३६ तक लिखीं मुझे केवल तीन आज पसन्द हैं—'निशानियां', 'तीन सौ चौबीस' और 'माया'।

'निशानियां' मैंने १९३२-३३ में लिखी—'जुदाई की शाम का गीत' के साथ ही लिखी हुई कहानियों में से यह एक है—'सत्तर श्रेष्ठ कहानियां' में इसका सन् १९३३ दिया गया है। मैंने कभी डायरी नहीं लिखी और कहानियों के लेखन-वर्ष मैंने याद से दिए हैं। एक-आध वर्ष का अन्तर उनमें हो सकता है। १९३६ के बाद मैंने छपी हुई कहानियों के तराशे रखने छोड़ दिए थे और उनकी एक-एक प्रतिलिपिअपने पास सुरक्षित रखने लगा था। उन्हींकी सहायता से मैं कहानी-संग्रह तैयार करता।···'निशानियां' प्रकट ही काल्पनिक रूमानी कहानी है। इसके बावजूद इसे अनुभूति का किंचित् स्पर्श मिला है और जहां 'जुदाई की शाम का गीत' बनी और गढ़ी कहानी लगती है, 'निशानियां' यथार्थता का पूरा भ्रम देती है, जो उस ज़माने में कहानी की एक बड़ी खूबी माना जाता था। दो-एक महीनों के अन्तर से 'जुदाई की शाम का गीत' (प्रेम की वेदी) और 'निशानियां' क्रमशः 'सरस्वती' और 'हंस' में छपीं। प्रेमचन्द ने बम्बई से मुझे एक लम्बा पत्र लिखा था, जिसमें उन्होंने 'प्रेम की वेदी' के दोष गिनाते हुए 'निशानियां' की बड़ी प्रशंसा की थी। इस कहानी की तमाम गम्भीरता और रूमानियत

में व्यंग्य मिले हास्य का हल्का-सा पुट है, जो मेरी बाद की कहानियों में और भी खुला, निखरा और परिपक्व हुआ।

'तीन सौ चौबीस' मैंने १९३४ में लिखी। उसके पिछले वर्ष मैं शिमला गया था और वहां जिस बात ने सबसे ज़्यादा मेरा ध्यान आकर्षित किया वे वहां के हातो थे। वे पीठपर इतना वज़न उठा लेते थे कि मैं हैरान खड़ा उन्हें देखता रह जाता था। तभी मैंने सुना कि एक जवान हातो ने एक बार अकेले दस भारी-भरकम प्यानो उठा लिया था। वह उसे पीठ पर उठाए छोटे शिमले तक ले गया था और उसकी जान जाती रही थी। तभी मेरी कल्पना में वह जवान हातो और उस भारी प्यानो के स्वामी का चित्र उभरने लगा और धीरे-धीरे जवान ख़ूबसूरत हैदर और मिस वाल्टन की रेखाएं सुस्पष्ट हो गईं और शिमला से लाहौर आने पर मैंने कहानी लिख डाली।

'तीन सौ चौबीस' जाने उर्दू की किस पत्रिका में छपी, लेकिन पंजाबी के प्रसिद्ध कवि और 'पंज दरिया' के सम्पादक प्रो० मोहनसिंह ने कहा कि उन्होंने यह कहानी कहीं अंग्रेज़ी में पढ़ी है। चूंकि दो-तीन मित्रों के सामने मोहनसिंह ने यह बात कही, इसलिए मैं उनके पीछे पड़ गया कि वो उस मैग-ज़ीन का नाम बताएं। कहानी चूंकि नितान्त मौलिक थी और उन दिनों लिखी जाने वाली कहानियों से भिन्न, इसलिए उन्हें लगा कि शायद मैंने कहीं से चुराई है। दिल ही दिल में मैं अपनी सफलता पर बड़ा प्रसन्न हुआ, लेकिन उन्हें दो वर्ष तक परेशान करता रहा। कहानी मैंने कहीं से चुराई होती तो वो बताते। आख़िर उन्होंने हार मान ली। और मान गए कि उन्होंने अन्दाज़ ही से कहा था, कि वह कहानी उन्हें अंग्रेज़ी कहानी-सी लगी थी।

'तीन सौ चौबीस' में उसके दो ही तीन वर्ष बाद लिखी जाने वाली मेरी प्रसिद्ध कहानी 'डाची', १९४१ में लिखी जानेवाली 'काकड़ां का तेली' और १९५४ में लिखे जाने वाले मेरे लघु उपन्यास 'पत्थर अलपत्थर' (बर्फ का दर्द) के बीज निहित हैं—इन चारों रचनाओं की मूलभूत संवेदना और दर्द एक जैसा है और इसीलिए मेरे कथा साहित्य में इस कहानी का विशेष महत्त्व है और अपनी तमाम काल्पनिकता और किंचित् कच्चेपन के बावजूद वह मुझे आज भी प्रिय है।

'माया' मैंने १९३५ में लिखी। उसकी प्रेरणा दिल्ली से लाहौर आने वाली एक लड़की थी जो ढेरों रेशमी टुकड़े साथ रखे थी और मित्र-परिचितों को अपनी याद के तौर पर उनके रूमाल बनाकर बांटती थी। कहानी के शिल्प की दृष्टि से वह मेरी तमाम पहले की कहानियों से किंचित् बेहतर है और उसका झीना व्यंग्य आज भी मुझे प्रिय लगता है।

'निशानियां', 'तीन सौ चौबीस' और 'माया' में यथार्थता का जो हल्का-सा स्पर्श है, वह अचानक १९३६ के बाद मेरी कहानियों की मुख्य विशेषता बन गया। उस वर्ष मेरी ज़िन्दगी में एक ऐसी त्रासदी घटी कि मेरी आंखों से कल्पना का पर्दा एकदम हट गया और मुझे ज़िन्दगी अपने नंगे रूप में दिखाई देने लगी। तभी १९३७ की जनवरी में मैंने 'डाची' लिखी। मेरी पहली पत्नी का देहांत एक महीना पहले हुआ था और मन की अत्यन्त उदास अवस्था में मैं अपने छोटे भाई के यहां अबोहर मण्डी चला गया था। मेरे भाई का घर सड़क के किनारे था। और मण्डी को जानेवाले भारवाही ऊंट हमारे घर के आगे से दिन-भर गुज़रा करते थे। तभी एक दिन मैंने उनमें एक बहुत खूबसूरत जवान सांडनी देखी। वह कुछ ऐसी मेरे मन में बस गई कि मेरी कल्पना पंख लगाकर उड़ चली। पहला ज़माना होता तो मैं कोई रूमानी कहानी लिखता, लेकिन मन की उस उदास अवस्था में मैंने उस सांडनी को 'डाची' में उतार दिया। 'डाची' को अज्ञेय ने 'विशाल भारत' में छापा। श्री विनोदशंकर व्यास ने तत्काल 'मधुकरी' में संकलित कर दिया और तब से जो वह कहानी लोकप्रिय हुई तो आज बत्तीस-तैंतीस वर्ष बीत जाने पर उसकी लोकप्रियता में रंच-मात्र कमी नहीं आई।

लेकिन सच्ची बात यह है कि मुझे वह उतनी पसन्द नहीं थी। यूं मैंने 'डाची' के साथ ही अगले दो वर्षों में, 'सभ्य असभ्य', 'पत्नी व्रत', 'पाषाण', 'नन्हा' जैसी कहानियां लिखीं, लेकिन उनके मुकाबिले में उसी ज़माने में लिखी हुई दूसरी तरह की कहानियां ('मनुष्य—यह', 'अंकुर', 'गोखरू', 'पिंजरा', 'नासूर' आदि) मुझे ज़्यादा प्रिय थीं। कहूं कि आज भी प्रिय हैं।

जैसा कि दूधनाथ सिंह के साथ एक लम्बे इण्टरव्यू में मैंने विस्तार से बताया है—जैनेन्द्र अथवा यशपाल की तरह एक ही शिल्प या शैली में

लिखना मुझे कभी प्रिय नहीं रहा। मेरा मस्तिष्क निहायत क्रियाशील और मेरा मन अत्यन्त चंचल है। एक ही रंग—विशेषकर कहानियों और एकांकियों में—अपनाए रखना मेरे लिए कठिन है। 'डाची' से पहले की पचास-साठ कहानियों में, उनकी तमाम काल्पनिकता और कच्चेपन के बावजूद, तीन-चार रंग स्पष्टतः दिखाई दे जाएंगे। 'डाची' के बाद मैंने जो कहानियां लिखीं, उनमें भी तीन रंगों की कहानियां हैं—

···कहानियां, जिनमें अनुभूति के संस्पर्श के साथ कल्पना की प्रचुरता और शिल्प का गठाव है। 'डाची,' 'सभ्य असभ्य,' 'पाषाण' और 'पत्नी-व्रत' उनमें ख्यात हुईं। ये कहानियां नख से शिख तक चुस्त-दुरुस्त हैं, लेकिन उनमें न गहराई थी न गीराई (व्यापकता), न वे मन को टटोलती हैं, न उसे परत-दर-परत खोलती हैं।

···कहानियां, जिनमें शिल्प का बिखराव है, जो लघुतम उपन्यासों जैसी हैं,लेकिन जिनमें गहराई भी है और व्यापकता भी और जो अपने पात्रों के मन को गहरे में टटोलती हैं। 'मनुष्य—यह', 'अंकुर', 'गोखरू', 'पिंजरा', और 'नासूर' ऐसी ही कहानियां हैं। इनमें 'मनुष्य—यह', 'अकुर' और 'नासूर' मुझे सर्वाधिक प्रिय हैं। लेकिन लोकप्रियता इनमें 'मनुष्य—यह', 'पिंजरा' और 'गोखरू' को अधिक मिली। शायद इसलिए कि शेष दो की अपेक्षा ये अधिक सरल और बोधगम्य हैं और उनके प्रतीक तत्काल पकड़ में आ जाते हैं। 'नासूर' उतनी चर्चित नहीं हुई। पर मैंने इस कहानी के पात्रों को ज़िन्दगी में बार-बार देखा है। इसीलिए यह कहानी मुझे आज भी प्रिय है।

···कहानियां, जो शुद्ध हास्य की सृष्टि के लिए लिखी गई। घोर दुःख और उदासी में कभी-कभी मन बहलाने के लिए मैं हास्य की शरण लेता हूं। उस ज़माने में मैंने कई ऐसी कहानियां लिखी थीं। उनमें 'रोब दाब' ख़ासी लोकप्रिय हुई। अपनी हास्यास्पदता के बावजूद, वह आज भी मुझे प्रिय है।

मैं १९३९ में प्रीतनगर चला गया था और वहां अपना बृहद उपन्यास 'गिरती दीवारें' लिखने लगा था। प्रकट ही कहानियां लिखना मैंने कम कर

दिया। तभी १६४० में उपन्यास लिखते-लिखते थककर मैंने एक साथ तीन कहानियां लिखीं—'चट्टान', 'कालू' और 'बैंगन का पौदा'। 'चट्टान', मुझे याद है, मैंने छः बार लिखी। वह 'अंकुर', 'पिंजरा' आदि की शैली में लिखी हुई कहानी है। मुझे वह अपनी तब तक लिखी कहानियों में सर्वाधिक प्रिय थी। लेकिन जब मैं लाहौर आया तो मेरे सभी मित्रों को तीनों कहानियों में 'बैंगन का पौदा' पसन्द आई। प्रगतिशील आन्दोलन दो-एक वर्ष पहले शुरू हो चुका था। वह कहानी ख़ूब उछली। मैंने वह एक ही बैठक में लिखी थी। जबकि 'चट्टान' पर मेरे कई महीने लग गए थे। 'चट्टान' का किसीने उल्लेख नहीं किया। मैं मान लूं कि मुझे बड़ी निराशा हुई। और फिर उस शैली में मैंने कहानी नहीं लिखी। लेकिन 'चट्टान' धीरे-धीरे प्रबुद्ध पाठकों द्वारा पसन्द की जाती रही और आज जब 'बैंगन का पौदा' का कभी कोई नाम भी नहीं लेता, 'चट्टान' अपनी एकाध शिल्पगत त्रुटि के बावजूद, पसन्द की जाती है। अभी दो वर्ष पहले वह अंग्रेज़ी में अनूदित होकर एक वृहद संग्रह में छपी है। मुझे वह आज भी उतनी ही प्रिय है, जितनी कि तब, जब मैंने वह लिखी थी।

१६४१ से ४३ तक मैं रेडियो में नौकर रहा। मैंने लगातार नाटक लिखे और फ़ुर्सत के समय में 'गिरती दीवारें' लिखता रहा। लेकिन चूंकि मण्टो और कृष्ण का साथ था, फिर बेदी भी दिल्ली आ गए थे, इसलिए कहानी बिलकुल न लिखना असम्भव था। मैंने उन तीन वर्षों में पांच कहानियां लिखीं। 'सपने', 'झटके', 'काकड़ां का तेली', 'उबाल' और 'खिलौने'।

'सपने' और 'झटके' यद्यपि खूब पसन्द की गईं; 'सपने' सेंट स्टीफ़न्ज़ कालेज के अंग्रेज़ी अध्यापक स्व० मदन मोहन भल्ला को इतनी पसन्द आई कि उन्होंने उसे तत्काल अंग्रेज़ी में कर डाला और 'झटके' की प्रशंसा बड़े बुखारी साहब ने की, लेकिन ख्याति 'काकड़ां का तेली' को मिली। वह 'डाची' जितनी ही लोकप्रिय हुई। यह और बात है कि जिस कारण 'डाची' मुझे पसन्द नहीं थी, उसी कारण 'काकड़ां का तेली' भी मेरी रुचि की नहीं थी, पर 'डाची' ही की तरह आज तीस वर्ष बीत जाने पर वह उतनी ही

लोकप्रिय है और 'डाची' ही की तरह अंग्रेज़ी, रूसी और जर्मन भाषाओं में उसके अनुवाद छपे हैं और उसकी लोकप्रियता में वृद्धि ही हुई है।

रेडियो की नौकरी छोड़ने के बाद कहानियां लिखने की मेरी रफ़्तार में वह पहले-सी शिद्दत नहीं रही, लेकिन यह भी सच है कि इस बीच मैंने बहुत कम ऐसी कहानियां लिखीं, जिन्हें द्वितीय कोटि की कहा ज़ाए। रंग वे तीनों बाद की कहानियों में भी हैं, लेकिन इन सभी रगों में कहानियां मैंने तभी लिखीं जब वे मेरे दिमाग़ में पूरी तरह पक गईं और उन्हें लिखे बिना चैन नहीं मिला। कईबार किसी थीम को मैंने दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह वर्ष तक दिमाग़ में पकाया। प्रकट है कि जब वह काग़ज़ पर उतरी तो मुझे पूरी तरह सन्तुष्ट कर गई। 'बेबसी', 'झाग और मुस्कान' (लल्लन), 'आकाश-चारी' और 'अजगर' ऐसी ही कहानियां हैं, जिनपर मैंने वर्षों दिमाग़सोज़ी की और पूरी तरह सन्तुष्ट होकर ही जिन्हें काग़ज़ पर उतारा।

रेडियो की नौकरी के बाद गत पचीस वर्षों में मैंने पचीस-तीस कहा-नियां ही लिखीं, लेकिन उनमें पन्द्रह ऐसी हैं, जो चर्चित हुईं। कुछ लोक-प्रिय हुईं और शेष चाहे लोकप्रिय नहीं हुईं लेकिन मुझे पूरी तरह सन्तुष्ट कर गईं और प्रिय रहीं।

१९४४ में मैं रेडियो से अलग हुआ तो मैंने छः महीने फ़ौजी अखबार में काम किया और उस अनुभव पर आधारित एक कहानी 'कैप्टन रशीद' लिखी। वह मुझे आज भी प्रिय है। १९४७-४८ में पंचगनी सेनेटोरियम में मैंने जो पांच-सात कहानियां लिखीं उनमें 'मिस्टर घटपाण्डे', 'टेबललैण्ड' और 'बच्चे' तथा कुछ छोटी कहानियां हैं। मुझे इनमें 'बच्चे' आज भी प्रिय है। यद्यपि तब मित्रों ने मिस्टर 'घटपाण्डे' और 'टेबललैण्ड' की प्रशंसा की थी।

इलाहाबाद आकर पहले दो वर्षों में मैंने कुछ हास्य-व्यंग्य की कहानियां लिखीं। कुछ ऐसी भी जिनके हास्य में गहरी त्रासदी तथा दारुणता निहित थी। 'काले साहब', 'तकल्लुफ़', 'चारा काटने की मशीन', 'लिरिंजाइटिस' तथा 'ज्ञानी' उनमें मुझे प्रिय हैं। इधर 'काले साहब' की ख्याति विदेश में

भी फैली है। दो बार दो विभिन्न अनुवादकों द्वारा अनूदित होकर यह कहानी अमरीकी पत्रिकाओं में छपी है। जर्मन भाषा में भी इस कहानी का अनुवाद हुआ है।

१९५४ में मैं कश्मीर गया और उसी वर्ष मैंने तीन कहानियां लिखीं। उनमें यद्यपि 'दालिये' और 'मेमने' साधारण पाठकों ने पसन्द कीं, लेकिन स्वयं मुझे 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल' प्रिय हैं। उस कहानी की बहुत चर्चा हुई और कुछ आधुनिक कथाकार उसे मेरी सर्वश्रेष्ठ कहानी मानते हैं। मैं ऐसा तो नहीं मानता, लेकिन कहानी वह मुझे पसन्द है और मैं उससे पूर्णतः सन्तुष्ट हूं।

१९५८ तक लिखी मेरी श्रेष्ठ कहानियां 'सतर श्रेष्ठ कहानियां' में संकलित हो गईं। उसके बाद दो वर्षों में मैंने पांच-सात कहानियां लिखीं। गम्भीर कहानियों में 'ठहराव', 'पलंग', 'बेबसी' तथा 'झाग और मुस्कान' बहुत पसन्द की गईं, और चर्चित हुईं। 'पलंग' का अनुवाद 'इलस्ट्रेटिड वीकली' के वर्तमान सम्पादक सरदार खुशवन्तसिंह ने अंग्रेज़ी में किया। लेकिन मेरे दिल की पूछिए, तो इन कहानियों में मुझे 'बेबसी' फिर 'झाग और मुस्कान' और फिर 'ठहराव' पसन्द है।

उस संग्रह में दो हास्य-व्यंग्य की कहानियां भी रहीं, जिनमें खाली डिब्बा' को मैंने जब-जब पढ़ा मुझे कहानी पसन्द आई।

ये सब कहानियां मेरे संग्रह 'पलंग' में प्रकाशित हुईं। इस संग्रह के बाद गत सात-आठ वर्षों में मैंने इतनी ही कहानियां लिखी हैं। उनमें 'एक उदासीन शाम', 'आकाशचारी', 'मरना और भरना' तथा 'अजगर' खूब चर्चित हुईं। 'मरना और भरना', 'आकाशचारी' और 'अजगर' पर पाठकों और आलोचकों ने मेरी कड़ी आलोचना भी की और 'एक उदासीन शाम' की प्रशंसा। लेकिन आज कुछ वर्ष बीत जाने पर दोबारा कहानियां पढ़ने पर मैं आलोचकों से सहमत नहीं। मुझे इनमें 'आकाशचारी' सर्वाधिक प्रिय है, फिर 'अजगर' और फिर 'एक उदासीन शाम'।

जब दूधनाथ के साथ अपने तवील इन्टरव्यू में मैंने हिन्दी की पन्द्रह सर्वश्रेष्ठ कहानियों में 'आकाशचारी' का नाम लिया था तो दूधनाथ ने कहा था कि इसका अर्थ यह है कि मैं अपनी डेढ़ सौ कहानियों में केवल

'आकाशचारी' को सर्वश्रेष्ठ मानता हूं। और जब मैंने स्वीकार किया था तो दूधनाथ ने कहा था, "मेरा खयाल था, आप 'कहानी लेखिका ग्रौर जेहलम के सात पुल' का नाम लेंगे।" और पूछा था, "आप 'आकाशचारी' को अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानी क्यों मानते हैं ?"

तब दूधनाथ के प्रश्न का विस्तार से उत्तर देते हुए मैंने कहा था—इसमें कोई शक नहीं कि मेरे तमाम कहानी लेखन में ये दो कहानियां ग्रपनी तरह की नितान्त अकेली हैं। 'कहानी लेखिका ग्रौर जेहलम के सात पुल' पर मैं 'सत्तर श्रेष्ठ कहानियां' की भूमिका में विस्तार से लिख चुका हूं। स्वयं दूधनाथ ने माना था कि वह आधुनिक लेखन के अत्यन्त निकट की कहानी है। लेकिन इन दोनों कहानियों में कोई तुलना नहीं। 'आकाशचारी', 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल' से कहीं ऊंचे दर्जे की कहानी है। मैं नहीं समझता मेरी तमाम कहानियों में 'आकाशचारी' के अतिरिक्त एक भी ऐसी कहानी है, जिसमें एक साथ वे सारे गुण हों, जो मैं अपनी सर्वोत्कृष्ट कहानी में देखना चाहूंगा। 'कहानी लेखिका…' जैसी कहानी तो मैं दूसरी लिख सकता हूं, क्योंकि वह मेरी सोच और श्रम का परिणाम है, लेकिन 'आकाशचारी' जैसी कहानी मैं दोबारा लिख सकता हूं, इसमें मुझे सन्देह है। पन्द्रह-बीस वर्षों की अनुभूतियां और विचार प्रेरणा के किसी सम्पुटित क्षण में 'आकाशचारी' के माध्यम से व्यक्त हो गए। एक सिटिंग में कहानी मैंने लिख डाली। उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हो सका और ऐसी कहानियां बार-बार नहीं लिखी जा सकतीं जो व्यापक संदर्भों को छुएं और बहुत-सी बातें एक साथ कहें।

पिछले पृष्ठों में मैंने अपनी सर्वाधिक प्रिय, लोकप्रिय अथवा चर्चित कहानियों का ज़िक्र किया है। उन कहानियों में से जो आज भी मुझे प्रिय हैं सब इस संग्रह में संकलित नहीं हो सकीं। डेढ़ सौ कहानियों में दस-पन्द्रह प्रिय कहानियां चुनना आसान नहीं है। जैसा कि मैंने शुरू में कहा, इस संकलन के लिए कहानियां चुनते समय मैंने पिता की दृष्टि से अधिक काम लिया है और वे कहानियां भी चुनी हैं, जिन्हें मैंने अन्यमनस्क ढंग से सृजा, पर जो लोकप्रिय हो गईं और मैंने उनकी लोकप्रियता पर गर्व महसूस किया। लेकिन मां की दृष्टि इस संकलन के चुनाव में बिलकुल ही न हो,

ऐसी बात नहीं। मेरी एकदम नई कहानी 'अजगर' का इसमें होना इसका प्रमाण है, जो अपनी नई सन्तान की तरह अभी मुझे अत्यधिक प्रिय है।

समय-समय पर मैंने कुछ छोटी कहानियां भी लिखी हैं, जिनमें दो-एक इस संग्रह में संकलित हैं।

जब मैंने भूमिका लिखनी शुरू की थी तो सोचा था कि कहानी-कला के सम्बन्ध में अपने मत, अपनी कहानियों के शिल्प, शैली, रचना-प्रक्रिया, प्रेरणा-स्रोतों, हिन्दी कहानी के विभिन्न आन्दोलनों, अपनी कहानियों पर उनके प्रभाव अथवा उस प्रभाव के अभाव और अपनी प्रिय कहानियों के प्रिय होने के कारणों की विस्तार से चर्चा करूंगा। लेकिन एक तो भूमिका लम्बी हो गई है, फिर सच्ची बात यह है कि लेखकों, आलोचकों अथवा शोध-ग्रन्थियों के लिए वे ब्यौरे चाहे उपयोगी हों, पाठकों को उनसे कुछ ज़्यादा लेना-देना नहीं रहता। इसलिए मैंने उनका समय नष्ट करना उचित नहीं समझा।

यह ठीक है कि कुछ पाठकों को इस संग्रह में अपनी कुछ प्रिय कहानियां न पाकर शिकायत होगी, लेकिन हर पाठक को अपनी पसन्द की दो-चार कहानियां यहां ज़रूर मिल जाएंगी, इसका मुझे विश्वास है।

संग्रह के अन्तिम चुनाव में श्री महेन्द्र कुलश्रेष्ठ ने मेरी सहायता की है। मैं उनके चुनाव से सहमत हूं और उनका आभारी हूं। वरना आज जो कहानियां मुझे प्रिय हैं, वही सब मैं चुनता तो संग्रह नितान्त एकांगी और बोझिल बन जाता।

—उपेन्द्रनाथ अश्क

५, खुसरोबाग रोड
इलाहाबाद
२५-४-७०

क्रम

एक उदासीन शाम

'ओ हेलो!'

धक्! प्रोफ़ेसर कानेतकर का हृदय क्षणांश को जैसे रुका, फिर दुगने वेग से धड़क उठा और रक्त का दबाव उनके चेहरे पर अदृश्य-सी लाली दौड़ा गया। वह आ गई थी।

जिसे 'हेलो' कहकर पुकारा गया था, उसने क्या उत्तर दिया और क्या बातें होने लगीं, कानेतकर ने वह सब नहीं सुना। उनकी सारी वृत्तियां उसकी उपस्थिति से अभिभूत थीं—कान्वेंट-ज़दा लहज़े में उसके बात करने की, कण्ठ-भाग में उठकर मिट जाने वाली उसकी मीठी मधुर हंसी की, उसके स्वर के शहद की अनुभूति जैसे उनके सारे एहसास पर छा गई थी।

पैड पर प्रवहमान उनका क़लम रुक गया था और काग़ज़ से ज़रा ऊपर उनके आधे मुड़े, ढीले हाथ में, तर्जनी के सहारे, बीच की उंगली पर लेटा था।

क्षण-भर कानेतकर उसी तरह आवाज़ पर कान लगाए बैठे रहे, फिर उन्होंने धीरे से आंखें उठाईं। उसकी आवाज़ एकदम सामने से आ रही थी, लेकिन खिड़की के बाहर सीमेंट का जंगला, जिसे उनका मित्र टेरेस कहकर पुकारता था, ख़ाली था। प्रोफ़ेसर कानेतकर की निगाहें टेरेस के पार तट की रेत, उसपर सैर को आने वाले लोगों, नाले की पुलिया के निकट जिमनास्टिक के खेल करने को तैयार बेफ़िक्रे युवकों, ज्वार पर आ रहे सागर अथवा क्षितिज पर डूबने को जा रहे सूरज—कहीं पर नहीं

टिकीं। क़लम मेज़ पर रखकर वे उठे। वहीं खड़े-खड़े उन्होंने खिड़की के बाहर देखा—वह टेरेस पर ही बैठी थी। खिड़की के सामने नहीं—ज़रा-सी बाईं ओर तिरछे को। खिड़की का पट सागर तट से आने वाली हवा के दबाव से थोड़ा बन्द हो गया था। पूरा खुल जाता तो अपनी कुर्सी पर बैठे-बैठे भी, ज़रा-सा दाईं ओर को झुककर वे उसे देख सकते थे।

प्रोफ़ेसर साहब ने चाहा, खिड़की पूरी खोल दें, लेकिन तभी एक ग़लत अन्दाज़-सी निगाह उसने उधर फेंकी। उनका सारा रक्त जैसे चेहरे की ओर को उमड़ आया। दिल बड़े ज़ोर से धड़कने लगा। उन्हें खिड़की खोलने का साहस नहीं हुआ। वे कुर्सी पर बैठ गए और निगाहें उन्होंने दाईं ओर, टेरेस के परे, नाले की पुलिया के इधर इकट्ठे होने वाले लड़कों पर जमा दीं, जिन्होंने अपने कपड़े उतार कर टेरेस के पास रख दिए थे और लंगोटा बांध, अथवा नेकर कसकर, कूदने-फांदने को तैयार थे।

न जाने शहर में कोई सरकस आया था अथवा कोई स्काउट्स जम्बूरी हो रही थी, लड़के रोज़ शाम को, शायद मिल अथवा कारख़ाना बन्द होने पर, यहां सागर तट पर आ इकट्ठे होते और निहायत फ़हड़, नौसिखियेपन से पिरामिड बनाते, रुकावटें रखके लम्बी छलांगें लगाते और दूसरे खेल खेलते। प्रोफ़ेसर कानेतकर युवावस्था में स्वयं अपने कालेज की जिमनास्टिक टीम के चैम्पियन थे। वे पैरेलल बार्ज़ अथवा हारिज़ान्टल बार पर यों कलाबाज़ियां लगाते, जैसे वह सब उन्होंने अनवरत अभ्यास से न सीखा हो वरन् जन्म ही से वैसा करते आए हों। रोमन रिंग्ज़ (Roman Rings) पर झूलते हुए कलाबाज़ी लगाकर वे रिंग्ज़ थाम लेते थे; हार्स-वर्क में सिद्धहस्त थे; लम्बी छलांग में उनका रेकार्ड था। जब वे इस कमरे में आए थे तो चन्द दिन तक रोज़ शाम को कुछ क्षण दरवाज़ा खोलकर वहीं खड़े-खड़े उन युवकों का खेल देखा करते।···

लेकिन तब उनकी दृष्टि ज़्यादा देर वहां नहीं रुकी। सागर तट पर लड़कों के ऐन ऊपर, कल्पना ही में उन्हें उसकी सिलहूत टेरेस पर बैठी दिखाई दी। उन्होंने आंखें वहां से हटा लीं, क़लम उठा लिया और मन को सब ओर से हटा, एकाग्र-चित्त हो, पूर्ववत् लिखने लगे।

लेकिन इस एकाग्रता से वे क्या लिखते जा रहे हैं, उन्हें कुछ मालूम

नहीं हुआ। उनके कान निरन्तर बाहर टेरेस पर होने वाली बातों की ओर लगे रहे—बातों पर नहीं, केवल उस शहदीले स्वर और बार-बार कण्ठ-भाग में उठकर वहीं मिट जाने वाली मधुर हंसी की ओर! किसी नाज़ुक-से फव्वारे में रुक-रुक उठने वाली बारीक फुहार-सी वह हंसी हर बार उनके सारे व्यक्तित्व को आप्लावित कर जाती।...उस क्षणांश ही में, जब उसने उनकी ओर वह ग़लत-अन्दाज़ निगाह डाली थी, उन्होंने देखा था कि आज उसने स्कर्ट नहीं पहनी, बल्कि गहरे नीले रंग की रेशमी कमीज़ और सफेद कैम्ब्रिक की शलवार पहन रखी है और उसके वे कटे हुए, नित्य कन्धों पर लहराने वाले बाल 'बूफ़े हेयर स्टाइल' में डमरू ऐसे बने हैं। उस काफ़ी ऊंचे उठे जूड़े के कारण उसकी गोरी गर्दन और भी लम्बी लगती थी। प्रोफ़ेसर कानेतकर को उस क्षण लगा था जैसे मिस्र देश की कोई शहज़ादी प्राचीन काल के चित्रों से निकलकर वहां टेरेस पर आ बैठी है।...उन्होंने दायें हाथ से बराबर क़लम चलाते हुए, बायें से खिड़की का पट पूरा खोल दिया और मेज़ पर से शीशे का एक चौकोर पेपरवेट उठाकर किवाड़ और चौखट के बीच रख दिया...ऐसा करते हुए उन्होंने आंखें नहीं उठाईं और पूरी व्यस्तता से लिखते गए।

लिखते गए, लेकिन उन्हें बराबर यह एहसास बना रहा कि वह सामने बाहर टेरेस पर बैठी है। जैसे कोई आंख भर कर बिजली के बल्ब को देख ले और फिर आंखें बन्द करने पर भी उसका ख़ाका उसे दिखाई देता रहे, इसी तरह निगाहें उठाए बिना भी उसकी वह सिलहूत उन्हें बराबर दिखाई दे रही थी।

सिर को ज़ोर का झटका देकर उन्होंने लिखी हुई पंक्तियां पढ़ीं, काट दीं और सायास एकाग्र होकर फिर लिखने लगे।

लेकिन इतनी एकाग्रता के बावजूद क्या लिखा गया, इसकी चेतना उन्हें नहीं थी। उनके कान उसी स्वर और उसी हंसी पर लगे थे और उसकी उपस्थिति की अनुभूति बदस्तूर उनपर छाई थी।

हारकर उन्होंने उधर निगाह उठाई। खिड़की की चौखट ने उसे बीचों-बीच काट दिया था। उसकी देह-यष्टि का केवल आधा भाग उन्हें दिखाई दे रहा था। तभी ज़रा-सी बाईं ओर को होकर वही ग़लत-अन्दाज़ निगाह

उसने उनपर डाली। प्रोफ़ेसर कानेतकर ने अचकचाकर आंखें झुका लीं और व्यस्त होते मेज़ से उठे।

पहले उनका मन हुआ कि बाहर का दरवाज़ा खोलकर कुछ क्षण चौखट में जा खड़े हों। उनके मित्र ने उन्हें दरवाज़ा खोलकर बैठने से मना किया था, क्योंकि सागर से आने वाली सीली, नमकीन हवा का ज़ोर बाईं दीवार पर पड़ता था जिससे दीवार के उस भाग का डिस्टेम्पर मद्धिम पड़ रहा था। लेकिन शाम इतनी सुन्दर और रंगीन होती थी और खिड़कियों से सागर का पूरा नज़ारा नहीं किया जा सकता था, इसलिए दिन-भर चाहे वे दरवाज़ा बन्द रखें, लेकिन शाम को वे प्रायः उसे खोल देते थे और काम करते-करते कुछ क्षण को चौखट में जा खड़े होते थे। लेकिन यह एहसास कि वह सामने टेरेस पर बैठी है, उनके मार्ग की बाधा बन गया। उन्हें यों बेबाकी से उसके सामने जा खड़े होने में संकोच हुआ। वे कुछ क्षण कमरे ही में, बाहर के दरवाज़े से अन्दर के दरवाज़े तक, चक्कर लगाते रहे। बार-बार उनका मन दरवाज़ा खोलने को होता; लेकिन दरवाज़ा खोलने के बदले वे वापस चल पड़ते।

हारकर उन्होंने दरवाज़ा खोल दिया। ठण्डी हवा का एक झोंका उनके शरीर में मीठी-सी सिरहन भर गया। लेकिन बाहर की ओर ज़रा भी देखे बिना वे फिर पलट आए और आकर कौंच में धंस गए। टांगें उन्होंने पसार लीं और दोनों बांहें सिर के ऊपर ले जाकर हाथों की उंगलियों को एक-दूसरी में फंसाते और चटखाते हुए ज़ोर की अंगड़ाई ली।

लेकिन वे बैठे नहीं रह सके। दूसरे ही क्षण वे फिर उछलकर उठे।

इतनी उम्र में भी एक ही हल्ले में वे उछलकर उठ सकते हैं, इस बात से उन्हें खुशी हुई। उनकी यही स्फूर्ति थी, जिसके सहारे उन्होंने पचास वर्ष की उम्र पार कर जाने पर भी डी०फ़िल करने का फैसला किया था। उनका कॉलेज विश्वविद्यालय में परिवर्तित होने जा रहा था और उनके प्रिंसपल ने उन्हें राय दी थी कि यदि वे इस बीच किसी तरह डाक्ट्रेट कर लेते हैं तो वे ही विभागाध्यक्ष बनेंगे, वरना कोई जूनियर उनके ऊपर आ बैठेगा।···प्रोफेसर कानेतकर ने कभी, वर्षों पहले, डी० फ़िल० करने का फ़ैसला किया था। थीसिस का विषय भी स्वीकार करा लिया था—

लेकिन मुलाज़मत, बीवी, बच्चों, कापियों, पाठ्यक्रम-बोर्ड की मेम्बरी और मीटिंगों ने उन्हें वह सब भुला दिया था। अब सहसा उन्होंने पुराने कागज़ों से थीसिस का सिनाप्सिस निकाला था और एक युवक की-सी तत्परता से उसमें जुट गए थे।···कोल्हापुर में पुस्तकों तथा दूसरी सामग्री का अभाव था। उनके मित्र ने उनकी यह मुश्किल आसान कर दी थी। जब वह पिछली बार कोल्हापुर गया था तो प्रोफेसर कानेतकर ने उसके सामने अपनी समस्या रखी थी। तब उसने दादर बीच के अपने इस एकांत कक्ष का उल्लेख किया था, जहां वह अपने फ़्लैट के शोर-शराबे से दूर, सागर की ठण्डी हवा का मज़ा लेता हुआ, काम किया करता था। उसकी फ़िल्म कम्पनी दो महीने के लिए कश्मीर की शूटिंग पर जा रही थी और उसने प्रोफ़ेसर कानेतकर को सलाह दी थी कि वे दो महीने बम्बई में उसके यहां रहें। कार और ड्राइवर वह उनके लिए छोड़ जाएगा। वे जिस लाइब्रेरी में जाना चाहेंगे, ड्राइवर उन्हें ले जाया करेगा। वे किताबें इकट्ठी कर लें और कमरे के एकांत में बैठकर लिखें। खाना ड्राइवर उन्हें पहुंचा देगा और चाय शाम को वहीं कमरे में बना दिया करेगा। उन्हें किसी तरह की तकलीफ न होगी और वे परम शान्ति और एकाग्रता से काम कर सकेंगे।···और प्रोफ़ेसर कानेतकर चले आए थे।

वे परदे के पीछे गए। वहां छोटी अलमारी पर पैर रख आइने में उन्होंने एक नज़र डाली। सुबह से काम करते-करते उनके चेहरे पर हल्की-सी थकान की रेखाएं उभर आई थीं। पेन को वहीं अलमारी पर रख, साबुन की डिबिया और तौलिया उठाकर वे पिछला दरवाज़ा खोल, बाथ-रूम में गए। वाशबेसिन में मुंह धोते हुए प्रोफ़ेसर कानेतकर की आंखों में अपने साथी अध्यापकों की सूरतें घूम गईं और हल्की-सी मुस्कान उनके होंठों पर फैल गई। उनके कितने ही सहयोगी पचास को पहुंचते-पहुंचते मोटे-बेढंगे, थुल-थुल, पिल-पिल हो गए थे, लेकिन उन्होंने अपना छरहरा-पन लगभग बनाए रखा था। मोटे तो पहले की अपेक्षा वे भी हो गए थे, पेट उनका ज़रा-सा निकल आया था और कल्ले भर गए थे, लेकिन वे मोटे नहीं, छरहरे ही थे। इसका कारण वह कसरत थी जो वे वर्षों बाकायदगी

से करते रहे थे। इधर कुछ अर्से से उनकी वह आदत छूट गई थी, उनका शरीर किंचित् ढीला पड़ गया था, लेकिन उनकी स्फूर्ति बरकरार थी और काम करने में वे युवकों को मात दे देते थे।

अच्छी तरह रगड़कर तौलिये से मुंह पोंछते हुए वे कमरे में वापस आ गए। अलमारी पर रखी शीशी में से ज़रा-सी वैनिशिंग क्रीम लेकर उन्होंने मुंह पर मली और आईने के सामने बाल संवारे—गोल चेहरा, घुंघराले खिचड़ी बाल, गहरी अहसास-भरी आंखें, मोटे पुरुषोचित होंठ—इस चेहरे पर अभी काफ़ी आकर्षण शेष था—इस कमरे में काम करते उन्हें मुश्किल से पन्द्रह दिन हुए होंगे कि इस लड़की ने बरबस उनका ध्यान अपनी ओर खींच लिया था—यह उसके स्वर का माधुर्य था अथवा हंसी का शहद, जिसके द्वारा उसने पहले-पहल उनका ध्यान आकर्षित किया, इसका विश्लेषण उन्होंने नहीं किया। वे केवल इतना जानते थे कि एक शाम वे बैठे बड़ी तन्मयता से काम कर रहे थे कि उनकी खिड़की के नीचे दो लड़कियां आ खड़ी हुईं और बातें करने लगीं। उनमें से एक ने बरबस उनका ध्यान खींच लिया। काम करना उनके लिए कठिन हो गया। दोनों लड़कियां बिल्डिंग के चक्कर लगाती हुई बार-बार उनकी खिड़की के पास रुक जाती थीं और हर बार उनका ध्यान बंट जाता था।

यह बिल्डिंग, जिसमें उनके मित्र ने यह छोटा-सा कमरा ले रखा था, 'समुद्र फेन' के नाम से जानी जाती थी। पांच मंज़िली इमारत थी। कैंडल रोड पर अस्पताल के बिलकुल सामने। सड़क से दाख़िल होने पर तो बम्बई की हज़ारों इमारतों की तरह ही दिखाई देती थी—सामने के अहाते में न सड़क पक्की थी, न फ़र्श—लेकिन बिल्डिंग के ईर्द-गिर्द और पिछली ओर बीस एक फ़ुट चौड़ी खुली जगह थी, जिसमें सीमेंट की सिलों से फ़र्श बंधा था। पिछवाड़े की ओर, बिल्डिंग की पूरी लम्बाई तक, सागर तट के बराबर सीमेंट का जंगला था, जिसका ऊपरी भाग चौड़ा और चमकीला था। यह जंगला, यों बिल्डिंग की ओर से चार एक फ़ुट ऊंचा था, लेकिन सागर की तरफ़ से उसकी ऊंचाई दस-बारह फ़ुट थी। बीच में एक छोटा-सा गेट था, जिससे सागर-तट पर उतरा जा सकता था। प्रोफ़ेसर कानेतकर के मित्र का कमरा बिल्डिंग के बाईं ओर के फ़्लैट में कोने का कमरा था,

जिसके दो ओर खिड़कियां थीं। चूंकि कारें वहां नहीं आती थीं, इसलिए शाम को बिल्डिंग के लड़के-लड़कियां और कभी औरतें वहां जंगले के साथ सैर करती थीं, कभी उतरकर सागर तट पर चली जाती थीं और कभी जंगले पर आकर बैठ जाती थीं।···वह लड़की जब घूमकर बाईं ओर से आती तो प्रोफ़ेसर कानेतकर के कान खड़े हो जाते, फिर जितनी देर तक उसकी बातों अथवा हंसी की आवाज़ आती, वे कुछ न कर पाते। उसकी हंसी बहुत छोटी, बहुत मीठी, बहुत धीमी और बहुत आकर्षक थी। उसने एक बार उनका ध्यान जो खींचा तो फिर वह वापस नहीं आया। जितनी देर वह उनकी खिड़की के निकट खड़ी बातें करती, उनकी सोच-समझ की शक्तियां श्रवणों में आ समातीं। जब वह चल देती तो कुछ क्षण उन्हें अपनी चेतना पर अधिकार पाने में लग जाते। अपने हवास दुरुस्त कर, अपनी वृत्तियों को एकाग्र करके, सायास तन्मय होकर, वे क़लम चलाने लगते कि तभी बाईं ओर उसकी वही शहदीली हंसी फिर सुनाई देती और उनका क़लम रुक जाता। जब-जब वह उनकी खिड़की के पास आकर रुकी, उनके जी में आई कि वे बाहर का दरवाज़ा खोलकर उसे एक नज़र देख लें। लेकिन उन्हें साहस नहीं हुआ।···जब बाहर शाम काफी गहरी हो गई तो वे उठे। उन्होंने धीरे से दरवाज़ा खोला। हवा के ज़ोर से वह खटाक जाकर बाईं ओर की दीवार से न लगे, इसलिए हाथ से थामे-थामे उन्होंने बड़ी सावधानी से उसे बाईं दीवार से लगा दिया। तब उन्होंने उस ओर नज़र दौड़ाई, जहां उनकी खिड़की के पास दीवार के सहारे दोनों लड़कियां खड़ी बातें कर रही थीं—उस नीम-अंधेरे में उन्होंने केवल इतना ही जाना कि दोनों ने स्कर्ट पहन रखी है। एक सत्रह-अठारह वर्ष की लगती थी, दूसरी बारह-तेरह वर्ष की। इससे ज़्यादा वे कुछ नहीं जान सके। न वे उनके चेहरे पहचान सके, न यह जान सके कि उन्होंने किस रंग के ब्लाउज़ अथवा स्कर्ट पहनी है। क्षणांश को उनकी ओर देखकर वे सीढ़ियां उतर गए और टेरेस के पास जा खड़े हुए। लड़कियां उनके बाहर आते ही खिसक गईं। क्षण-भर प्रोफ़ेसर कानेतकर जैसे सागर की तारीकी को हांफते हुए देखते रहे। फिर उन्होंने लम्बी सांस ली और धीरे-धीरे टेरेस के साथ घूमने लगे। सामने क्षितिज पर अभी तक प्रकाश की दो-

एक धूमिल रेखाएं फैली थीं, जिनके नीचे दूर सागर में किसी जहाज़ अथवा नाव की बत्ती रह-रहकर झिलमिला जाती थीं।

टेरेस के साथ घूमते हुए प्रोफ़ेसर कानेतकर कभी दक्खिन की ओर दूर वरली प्वाइंट तक अर्ध गोलाकार चमकती रोशनियों को देखते, कभी मुड़कर उत्तर मेंबांदरा के रेलवे पुल की चमचमाती बत्तियों को निरखते, लेकिन उन रोशनियों से हटकर उनकी निगाहें बार-बार बाईं ओर 'समुद्र फेन' की सभी खिड़कियों का जायज़ा ले लेतीं कि जाने किसी खिड़की में वह स्वर अथवा वह हंसी सुनाई दे जाए।

वे देर तक टेरेस के साथ घूमते रहे थे। एक बार बग़ल के फ़्लैट में, जिसके डाइनिंग रूप का दरवाज़ा पीछे को खुलता था, स्कर्ट वाली एक लड़की को देखकर उन्हें लगा था कि वही लड़की है। वे कई बार उस फ़्लैट के सामने से गुज़रे थे, उस लड़की से उनकी निगाहें भी चार हुईं, पर यद्यपि वह लड़की सुन्दर थी, उन्हें लगा कि वह नहीं है, क्योंकि एक बार भी तो वह उस तरह नहीं हंसी।···निराश होने के बावजूद वे देर तक वहीं चक्कर लगाते रहे थे।

लेकिन इन दस-पन्द्रह दिनों में यद्यपि उन्होंने उससे अच्छी तरह आंखें नहीं मिलाई थीं, वे उसे पहचान गए थे। वह उसी फ़्लैट के सिंधी किराये-दार की लड़की थी, जिनसे उनके मित्र ने वह कमरा ले रखा था। उस फ़्लैट का, सागर की ओर को खुलने वाला कमरा तो उनके मित्र ही के पास था, वे सिंधी उधर के कमरे में रहते थे। तो भी एक-दो बार बाथरूम को जाते अथवा वहां से आते हुए उन्होंने उसे अपनी ममी अथवा पापा से बातें करते सुना था। वह हंसी भी उन्हें सुनाई दी थी और एक-दो बार तो उन्होंने उसे उन्हीं दिनों मेट्रो में लगी फिल्म के गाने की पंक्ति गाते सुना था। वे बाथरूम से हाथ-मुंह धोकर आए थे, दरवाज़ा ज़रा खुला था कि उसकी तान सुनाई दी—'आवाज़ मैं न दूंगी!'—लोच और सोज़-भरी खनखनाती तान! कम्बख्त ने 'दूंगा' की जगह 'दूंगी' कर दिया था। गैलरी में अथवा उधर के कमरे में अन्दर-बाहर जाते हुए वह यही एक पंक्ति बार-बार गाए जा रहे थी—'आवाज़ मैं न दूंगी'—'आवाज़ मैं न दूंगी'—प्रोफ़ेसर कानेतकर को लगा था, जैसे वह उन्हींको नाकर वह

पंक्ति दोहरा रही थी। कभी-कभी वह ऐन उनकी खिड़की के सामने टेरेस से लगकर खड़ी हो जाती और किसी न किसीसे बातें करते हुए उन्हीं गलत-अन्दाज़ निगाहों से उनको परेशान करती···और आज वह शलवार, कमीज़ पहन, अपनी लम्बी-गोरी गर्दन, तीखे नुकीले चेहरे और उस डमरू जैसे जूड़े के साथ मिस्र की शहज़ादी बनी, बिलकुल उनके सामने टेरेस पर आकर बैठ गई थी।···

आईने में अपने चेहरे के आकर्षण का जायज़ा लेते हुए उस सुरीली तान का खयाल आ जाने से उन्होंने मन ही मन कहा—'हांक मीच देनार लाड़के—हांक मीच देनार।' यानी 'आवाज़ मैं ही दूंगा मेरी जान, आवाज़ मैं ही दूंगा।'

अपनी इस चंचलता की मन ही मन भर्त्सना करने के बावजूद वही पंक्ति सोत्साह गुनगुनाते हुए उन्होंने कंघी रखकर अपने बालों पर हाथ फेरा।···उनके सामने अपनी जवानी के दिन घूम गए, उनके व्यक्तित्व में कैसा आकर्षण था, कैसे युवतियां उनकी ओर खिचती चली आती थीं··· एक के बाद एक कई चेहरे उनके सम्मुख घूम गए और फिर एक चेहरा उनके मानस-तट पर अंकित हो गया—चेहरा, जो उनके घर में उनकी पत्नी के रूप में आकर बस गया था···जिसने अपनी कुशलता से सदा दूसरे चेहरों को उनके निकट आने से रोक दिया था···लेकिन दूसरे क्षण वह चेहरा वहां से हट गया और वही टेरेस पर बैठी शहज़ादी आकर वहां अंकित हो गई।

इस लड़की ने, उसके शहद-भरे स्वर ने, उसकी हंसी ने हठात् उन्हें जवान बना दिया था। उसकी उस गलत-अन्दाज़ निगाह ने न जाने उनकी नसों में कैसी स्फूर्ति और शक्ति का संचार कर दिया था कि पिछले कई दिनों से वे अपने-आपको एकदम बदला हुआ महसूस करने लगे थे।

बालों पर हाथ फेरते हुए उन्हें लगा कि उनके बाल उतने घने नहीं रहे लेकिन गंजेपन को उनकी खोपड़ी पर अपना अधिकार जमाने में अभी वर्षों दरकार थे। संतोष से मुस्कराकर अपनी टाई की ढीली गिरह उन्होंने कसी, पेन उठाया और फिर कमरे में घूमने लगे।

'हांक मीच देनार लाड़के, हांक मीच देनार !'

पेन उनके दायें हाथ में था, उस हाथ की कलाई को वायें हाथ ने बांध रखा था और दोनों हाथ उनकी कमर पर थे, मेरुदण्ड किंचित् आगे को झुका हुआ था और कुछ अजीव से उल्लास में वे कमरे में घूमे और मन ही मन गुनगुनाए जा रहे थे—'हांक मीच देनार लाड़के, हांक मीच देनार !'

यह अनुभूति उन्हें कुछ विचित्र उल्लास से भर रही थी कि पचासवां पार करने पर भी वे एक नितान्त अनजान अपरिचित सुन्दरी को अपनी ओर आकर्षित कर सकते हैं।···कॉलेज में उनकी छात्राएं कभी उनके निकट आ जाती थीं तो वे उन्हें गोद में भर कर प्यार भी कर लेते थे, पर वे उन्हें बड़े भाई अथवा बाप सरीखा समझती थीं। कुछ और निकट आ जाती थीं, तो उनकी अपनी लड़कियों की तरह उन्हें 'आवा जी' या 'भाऊ जी' कहकर पुकारने लगती थीं और वे अपने बुढ़ापे से लगभग समझौता कर चुके थे। कभी जब उनकी सांस फूलने लगती; कमर में उंगलियों की गांठों अथवा घुटनों के जोड़ों में दर्द होने लगता तो वे हंसकर अपने बुढ़ापे का उल्लेख भी करते···लेकिन इस लड़की ने, उसकी उन निगाहों ने उन्हें विश्वास दिला दिया था कि उनका आकर्षण अभी ख़त्म नहीं हुआ। आईने में उन्होंने देखा था—उनके चेहरे पर एक भी झुर्री न थी। कण्ठ-भाग पर मांस ज़रूर कुछ ढीला हो गया था और दो-एक झुर्रियां बन रही थीं, पर लगता था जैसे टाई की गिरह कुछ ज़्यादा कस जाने के कारण बनी हैं। फिर उन्हें अपने चेहरे पर कुछ ऐसी चमक दिखाई दी, जो कोल्हापुर के घुटे-घुटे बन्द माहौल में कभी दिखाई न दी थी···

उसी तरह दोनों हाथ कमर पर रखे वे कमरे में चक्कर लगाते रहे। वे दरवाज़े तक जाते, लेकिन बिना नज़र उठाए जैसे गहरे ध्यान में मगन वहां से वापस पलट आते। हर बार उनका मन होता, उसे एक नज़र देखें, पर वे निगाह न उठाते। जब वे तीन-चार चक्कर इस तरह लगा चुके और उन्हें विश्वास हो गया कि अब दरवाज़े में कुछ क्षण को जा खड़े होना एकदम सहज लगेगा तो दरवाज़े में जाकर मुड़े नहीं और चौखट के सहारे खड़े हो गए, और शून्य में तकते हुए पेन के पिछले सिरे से यों कनपटी को खुजाने लगे जैसे किसी गहन समस्या को सुलझा रहे हों।

वह उसी तरह टांग पर टांग रखे, उन्हें हिलाती हुई टेरेस पर बैठी थी। उसके साथ बात करनेवाला शायद नीचे तट पर उतर गया था। प्रोफ़ेसर साहब की निगाहें शून्य में भटकती हुई उसके पैरों पर जा टिकीं। उसने नायलान के सफ़ेद चप्पल पहन रखे थे। उनकी सफ़ेद जाली तो इतनी दूर से उन्हें दिखाई दे रही थी, यही लगता था जैसे तला उन गोरे-गोरे नाजुक पैरों के साथ जुड़ा है।

कुछ क्षण तक वे अपनी दृष्टि वहीं जमाए रहे, ताकि लगे, वे उन पैरों को नहीं देख रहे, अपने ध्यान में मग्न यों ही शून्य में दृष्टि जमाए हैं। फिर ससंकोच उनकी दृष्टि कैम्ब्रिक की सफ़ेद दूधिया सलवार और गहरी नीली रेशमी कमीज़ पर सरकती हुई, उसके चेहरे की ओर बढ़ी। लेकिन वहां रुकी नहीं। वह उन्हींकी ओर घूर रही थी। उनकी दृष्टि उसके डमरू जैसे जूड़े से बिछलती हुई पश्चिम के क्षितिज पर जा टिकी—

अस्तोन्मुख सूरज ने अपनी किरणें समेट ली थीं। क्षितिज पर, जहां सागर और आकाश गले मिल रहे थे, हल्की धुंध छाई थी और सूरज की बड़ी-सी सेन्दूरी थाली उसके ऊपर टिकी दिखाई देती थी। लेकिन अदृश्य रूप से वह क्षण-क्षण नीचे उतर रही थी। प्रोफ़ेसर कानेतकर के देखते-देखते वह उस धुंध में उतरी और पिचककर बड़ी-सी नारंगी जैसी हो गई। उस नारंगी का निचला भाग सागर तल को छू रहा था। वहीं से उसका बिम्ब एक सुनहरी मीनार-सा ज्वार पर आए सागर की लहरों पर लरजता तट तक आ गया था। प्रोफ़ेसर कानेतकर की दृष्टि एक बार क्षितिज से तट तक और तट से क्षितिज तक उसी कांपते सुनहरी मीनार पर बिछलती आई और लौट गई। सूरज के डूबने के साथ-साथ उस मीनार की चमक मन्द हो रही थी और लहरों की सियाही बढ़ रही थी।···दूर क्षितिज पर पहले एक नाव के पाल दिखाई दिए, फिर दूसरी के, फिर तीसरी के। डूबते सूरज की रोशनी में वे पाल प्रो० कानेतकर को याद के आकाश में सहसा उद्‌भासित हो आनेवाली सुखद आकृतियों-से लगे।···दूर जहां बांदरा की पहाड़ी सागर में काफ़ी आगे तक बढ़ आई थी, सागर की तह उथली थी। ज्वार के पहले रेलों में लगातार वहां फेन की धारियां बन-मिट रही थीं और यह फेन सागर-तल पर कई जगह बगलों की पांतों-सी बढ़ती तट के

पास आकर किनारे के साथ-साथ सफ़ेद लकीर बनाती हुई मिट जाती थी···ज्वार अभी-अभी शुरू हो रहा था। हर रेले के साथ तट का कुछ ज़्यादा भाग गीला हो जाता, प्रोफ़ेसर कानेतकर कुछ क्षण तक ज्वार को बढ़ते देखते रहे। फिर उन्होंने कनखियों से लड़की की ओर देखा।

उसका ध्यान उनकी ओर नहीं था। उधर को पीठ किए वह तट पर निगाहें जमाए थी। पहले उन्हें लगा कि शायद वह सांझ के वक़्त सागर तट पर इकट्ठे होनेवालों में से किसी परिचित को ढूंढ़ रही है। पर तट पर उतनी भीड़ नहीं थी। दो फ़र्लांग आगे कैंडल कोर्ट के तट पर ख़ूब भीड़ थी। लेकिन 'समुद्र फेन' के सामने तो तट पर बहुत कम लोग थे, जो थे, वे भी आ-जा रहे थे। भेल-पूड़ी वाली एक हथगाड़ी खड़ी थी, जहां चार-छः लोग भेल-पूड़ी उड़ा रहे थे। प्रोफ़ेसर साहब को तट पर कोई भी ऐसा चेहरा न दिखाई दिया, जो उसके ध्यान का केन्द्र हो सके। धीरे-धीरे वे कमरे की सीढ़ी उतरे और उस लड़की के कुछ अन्तर पर, उसके पीछे टेरेस के साथ जा खड़े हुए। उनकी पद-चाप का उसने कोई नोटिस नहीं लिया। वह उसी मुद्रा में बैठी रही। तब उन्होंने उसकी दृष्टि का अनुसरण किया। उन्हें पता चल गया। वह बड़े तन्मय भाव से मज़दूर युवकों का खेल देख रही थी।

क्षण-भर को वे भी लड़कों का खेल देखने लगे। उन लोगों ने एक नया ही खेल शुरू किया था। दो लड़के गीले तट के कुछ ही इधर रेत पर चित लेटे थे। एक, जो किंचित् लम्बा था, टेरेस के पास आकर वहां से भागा। लेटे हुए लड़कों के पास आ, ऐसे उचककर कि उसके हाथ कठिनाई से धरती छू पाए, उसने कलाबाज़ी लगाई और उनके पार धम से गीली रेत पर जा गिरा। 'ग़लत,' प्रोफ़ेसर साहब ने मन ही मन कहा, 'उसे कलाबाज़ी लगाकर एकदम सीधे खड़ा रहना चाहिए, यों धम से नहीं गिरना चाहिए।' और उन्हें इच्छा हुई जाकर उसे ठीक से कलाबाज़ी लगाना सिखाएं।··· दूसरी बार उस युवक ने तीन लड़कों को लेटने के लिए कहा, तीसरी बार चार को···

प्रोफ़ेसर साहब ज़रा-सा खांसे, लेकिन उनके अस्तित्व से नितान्त बेपरवाह वह लड़की तल्लीन होकर खेल देख रही थी···तब जाने उन्हें क्या

हुआ, वे लगभग भागते हुए उसके पास से गुज़रे और कुछ आगे जाकर बायां हाथ ज़रा-सा टेरेस पर रख, किसी युवक जिमनास्ट की तरह उसके ऊपर से साफ़ कूद गए और लगभग बारह फ़ुट नीचे रेत पर सीधे पांवों के बल जा खड़े हुए। इतनी ऊंचाई से कूदने पर उनके घुटने झुके, उन्हें लगा कि लड़खड़ाकर गिर जाएंगे, लेकिन दूसरे क्षण वे संभलकर सीधे खड़े हो गए। इस तरह दौड़ने और इतनी ऊंचाई से कूदने के कारण उनकी सांस फूल आई थी। ख़ून का दबाव उनके सिर की ओर बढ़ा और निमिष-भर को उन्हें लगा कि चक्कर खाकर वे गिर जाएंगे, लेकिन अपनी पूरी इच्छा-शक्ति से काम लेकर वे कुछ क्षण उसी तरह सीधे, निश्चल खड़े रहे। उनकी सांस दुरुस्त हुई तो उनके जी में आया, ऊपर निगाह डालें, पर अपनी इच्छा पर उन्होंने अंकुश रखा और सहज भाव से उन लड़कों की ओर बढ़ चले।

वे लड़के अपना खेल छोड़कर उनकी ओर ही देख रहे थे। जिस सफ़ाई से प्रोफ़ेसर कानेतकर कूदे थे, प्रकट ही वे उससे प्रभावित थे। इसी-लिए जब वहां पहुंचकर प्रोफ़ेसर साहब ने कहा कि वे उन्हें ठीक से कला-बाज़ी लगाना सिखाते हैं तो वे सोत्साह तैयार हो गए।

पेन अभी तक प्रोफ़ेसर साहब के हाथ ही में था। उसे उन्होंने बड़े लड़के को थमाया, उन चारों लड़कों से उसी तरह लेटने को कहा; जूते और मोज़े उतारे, पैंट की मोहरी को मोड़कर कुछ ऊपर चढ़ा लिया और सहज भाव से नीचे को ध्यान जमाए टेरेस तक गए। वहां से मुड़कर वे भागते हुए आए और दूसरे क्षण कलाबाज़ी लगाकर चारों लड़कों के पार, पानी के निकट की अपेक्षाकृत कठिन रेत पर पैरों के बल जा टिके। क्षणांश को उन्हें लगा कि पीछे गिर जाएंगे, लेकिन दूसरे पल वे सीधे खड़े थे।

वह मज़दूर लड़का कलाबाज़ी लगाता था तो धम से चूतड़ों के बल रेत पर जा गिरता था, लेकिन प्रोफ़ेसर साहब के घुटने भी नहीं झुके। वे एकदम सीधे खड़े रहे। हल्का-सा चक्कर उन्हें ज़रूर आया, कमर में भी उन्हें कुछ अकड़ाव महसूस हुआ, लेकिन इस उम्र में अपनी इस सफलता पर उन्हें गर्व भी कम नहीं हुआ। उसी क्षण उन्होंने मुड़कर टेरेस की ओर

देखा। उन्हें लगा कि लड़की एकटक उन्हींकी ओर देख रही है। उस दूरस्थ दृष्टि के स्पर्श ही से जैसे उनका हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़क उठा और अपूर्व पुलक के कारण रक्त उनके दिमाग की ओर दौड़ चला। लगभग नशे में, वे लेटे हुए लड़कों के ऊपर से घूमकर वापस आए और उन्होंने शेष दो लड़कों को भी वहां जाकर लेट जाने का आदेश दिया।

दोनों लड़के (वह भी जो स्वयं कलाबाज़ी लगा रहा था) वहां बाक़ियों के साथ जाकर लेट गए।

तब प्रोफ़ेसर कानेतकर बड़े गर्व से चलते, रेत पर एड़ियों का दबाव देते, लगभग झूमते, टेरेस तक गए। बिजली की-सी गति से मुड़े और गोली की तरह भागते आए और लेटे हुए लड़कों के पास आकर कूदे।...लेकिन तभी न जाने क्या हुआ, कलाबाज़ी उनसे नहीं लगी। वे सीधे लड़कों के पास जाकर सिर के बल गिरे। उनकी गर्दन टेढ़ी हो गई और उनके शरीर का आधा भाग बेजान-सा चित लेटे लड़कों पर जा गिरा।

सुनहरी नारंगी सागर में एकदम डूब गई थी। क्षितिज में सागर तल पर एक ज़रा-सा सुनहरी तिल दिखाई दे रहा था।

'समुद्र फेन' की किसी ऊपर की मंज़िल से कोई लड़का सागर तट पर भीड़ जमा होती देखकर भागता आया और पिछवाड़े आकर उसने टेरेस पर बैठी लड़की से पूछा—"ह्वाट हैपेण्ड ?"[१]

"दैट सिल्ली ओल्ड मैन," लड़की ने कानेतकर के कमरे की ओर संकेत करते हुए कहा, "हैज़ ब्रोकेन हिज़ नेक ओवर देयर।"[२]

लड़का भागता हुआ तट पर उतर गया। लड़की परम उदासीन भाव से वहीं टेरेस पर बैठी हुई पांव झुलाती रही। क्षितिज में गहरा सेन्दूरी अलाव जल उठा था जिसकी लपटें पूरी पश्चिम दिशा पर छा रही थीं। सहसा सागर-तल पर लहरें चंदीली हो गईं और जो किश्तियां पहले दिखाई न देती थीं, उनके सिलहूत दिखाई देने लगे। लड़की ने भीड़ से निगाहें

---

१. क्या हुआ ?

२. वह मूरख बुड्ढा—उसने वहां अपनी गर्दन तुड़वा ली है।

हटा लीं और सागर के बीच एक किश्ती पर खड़े मल्लाहों के सिलहूत देखने लगी, जो सागर की चंदीली लहरों पर एकदम चित्रित-से दिखाई देते थे। बिल्कुल ऐसे, जैसे वह स्वयं टेरेस पर बैठी चित्रित दीखती थी।

१९६५

काले साहब

डी० एम० की कोठी से बाहर निकलकर श्रीवास्तव ने रिस्ट-वाच की ओर देखा। आठ बजे थे। उसके पास पूरा एक घण्टा था। चपरासी ने डी० एम० के नौ बजे वापस आने की बात कही थी। तो क्यों न वह गजानन को इलाहाबाद में अपने शुभागमन का सुसमाचार दे आए। 'एक पंथ दो काज' में उसका सदा विश्वास रहा था, बल्कि यदि किसी पंथ में दो के बदले चार काज हों तो वह उन सबको एक साथ निबटाने से कभी न चूकता था। यही कारण था कि छः-सात वर्ष पहले के पचास-साठ रुपये मासिक पाने वाले पत्रकार से उन्नति कर वह इस थोड़े-से अर्से में डिप्टी कलेक्टर हो गया था। न केवल यह, बल्कि डिप्टी कलेक्टर होने के बाद इसी चुस्ती और चालाकी के बल पर वह सूने और बीहड़ ज़िलों को फलांगता हुआ इलाहाबाद आ नियुक्त हुआ था। आज ही प्रातः इलाहाबाद में उसका पदार्पण हुआ था और आज ही वह अपने अफ़सर के यहां हाज़िरी देने जा पहुंचा था। पर डी० एम० लखनऊ से दौरे पर आने वाले एक मन्त्री के यहां हाज़िरी देने गए हुए थे, इसलिए एक घण्टा श्रीवास्तव के पास ख़ाली था। गजानन उसका बचपन का मित्र था। एलनगंज में रहता था। यूनिवर्सिटी में लेक्चरर था। अभी वह घर ही पर होगा, यह सोचकर श्रीवास्तव ने इस ख़ाली समय में उसीके यहां हो आने का फ़ैसला किया। कचहरी के पास से गुज़र, वह सड़क पर आ खड़ा हुआ—एक दिन वह इसी कचहरी का बड़ा हाकिम बनेगा, यह ध्यान आते

ही गर्व से उसकी एड़ियां तनिक उठ गई, उसके हाथ बुश्शर्ट के अकड़े कालरों पर होते हुए दामन पर आकर रुक गए और पंजों पर एक-दो वार ज़ोर देते हुए उसने आगे-पीछे से बुश्शर्ट को ठीक किया। तभी उसने देखा कि सामने वारहदरी के पास दो रिक्शा वाले जैसे उसीको लेकर कुछ वहस करते हुए चले आ रहे हैं।

"रिक्श्या!"

उसने साहवी स्वर से गले में शब्द को तनिक उमेठते हुए आवाज़ दी।

"जी हुज़ूर!"

और दोनों रिक्शा उसके सामने आ खड़े हुए।

"क्यों भाई, घण्टे के हिसाव से चलोगे?"

"कहां जाएंगे?" पहले रिक्शा वाले ने पूछा।

"कहीं भी जाएं!"

"क्या घण्टा मिलेगा?"

"जो भी रेट होगा!"

"रुपया घण्टा लेंगे!"

"दस आना मिलेगा!"

"अजी आइए हुज़ूर, आप इधर आइए!" दूसरे रिक्शा वाले ने बड़े लटकते हुए लखनवी ढंग से हांक लगाई।

"हां-हां, तुम ले आओ।"

और दूसरे रिक्शा के बराबर आते ही श्रीवास्तव उचककर उसमें बैठ गया। बुश्शर्ट को दोनों ओर दामन से ज़रा खींचकर उसने ठीक किया और पतलून को तनिक ऊपर उठा लिया कि उसकी क्रीज़ खराब न हो जाए। वह पीछे की ओर पीठ लगाकर आराम से नहीं बैठा। बुश्शर्ट के मसले जाने का उसे भय था, और डी० एम० से मिलने तक वह इसी प्रकार लक-दक बने रहना चाहता था। रिक्शा पर वह इस प्रकार अकड़ा बैठा था जैसे डी० एम० से हाथ मिलाकर अभी-अभी कुर्सी पर बैठा हो। सीधा, अकड़ा और चाक-चौवन्द!

रिक्शा वाला ख़ाकी सूट पहने था। सूट बहुत मैला भी न था। शक्ल से भी वह साधारण रिक्शा वाला मालूम न होता था। इलाहावाद के

रिक्शा वालों में देहातियों का बाहुल्य रहता है। फ़सल का मौसम न हो और काम से छुट्टी हो तो निकटवर्ती गांवों के देहाती अपने लम्बे-तगड़े शरीर पर खादी की बण्डी और कमर में अंगोछा बांधे, मुर्री में एक जून का राशन लिए इलाहाबाद की ओर चल पड़ते हैं। संध्या को पहुंचते हैं, रात के लिए रिक्शा लेते हैं और सवारी से किराया लेकर ही दूसरे जून के सत्तू ख़रीदते हैं। इन्हीं रिक्शा वाले देहातियों की सुविधा के लिए बहुत-से पनवाड़ियों ने पान, बीड़ी, सिगरेट के साथ सत्तू के थाल भी सजा रखे हैं, जिनके पिरामिडों में हरी मिर्च खुसी अजब बहार देती हैं। ये देहाती रिक्शा वाले, रिक्शा चलाते-चलाते जब ज़रा समय पाते हैं तो सेर-आध सेर सत्तू ले, उन्हींकी थाली में गूंध लौंदा-सा बनाकर हाथ पर रख लेते हैं और मिर्चों की सहायता से निगलकर पास के किसी नल से दो घूंट पानी पी लेते हैं।

कहते हैं कि गीदड़ की मौत आती है तो वह नगर की ओर भागता है। उस गीदड़ और इन देहातियों में कोई विशेष अन्तर नहीं। दिन-दिन-भर और कई बार दिन और रात-भर रिक्शा चलाकर जहां वे साल-साल-भर का लगान कमाकर ले जाते हैं, वहां फेफड़ों को भी खोखला कर जाते हैं।

दूसरे रिक्शा वाले, इलाहाबाद ही के ऐसे नागरिक मज़दूर हैं जो द्वितीय महायुद्ध के बाद बेकार हो गए हैं। रिक्शा चलाते-चलाते उनकी पसलियां निकल आई हैं। यक्ष्मा उनकी आंखों में झांकता है तो भी वे महं-गाई के इस ज़माने में बाल-बच्चों का पेट भरने के लिए रिक्शा खींचने को विवश हैं।

श्रीवास्तव प्रयाग का ही निवासी था। वह इन दोनों तरह के रिक्शा वालों से भली भांति परिचित था। किन्तु उसका यह रिक्शा वाला उसे इन दोनों में से न दिखाई दिया। इधर रिक्शा वालों की एक तीसरी श्रेणी भी दिखाई देने लगी है। रोनाल्ड कोलमैन की तरह बारीक-सी तलवार काट मूंछ बनाए, फ़ौजी पैण्ट या बुशर्ट या केवल टोपी पहने, युद्ध से छुट्टी पाए बेकार फ़ौजी रिक्शा चलाने लगे हैं। रिक्शा चलाते समय उनके सिर का तिरछापन, साइकिल की गद्दी पर बैठे हुए उनकी कमर की अकड़ और

पैंडल घुमाते हुए बाहर की ओर घुटनों का फैलाव, पहली ही दृष्टि में उनके फ़ौजी होने का पता दे देता है। ओठों के दायें अथवा बायें कोने में बीड़ी दबाए, तीसरे महायुद्ध के स्वप्न देखते, मिस्र, ईरान, इटली, जर्मनी, वहां की आज़ाद फ़िज़ा और गोरी-गोरी तन्वंगियों के ख़्वाब लेते, वे दनदनाते हुए रिक्शा चलाए जाते हैं। आज़ादी ने उन्हें गिड़गिड़ाना भुलाकर स्वाभिमान से सिर उठाना सिखा दिया है। अधिकांश क्योंकि अर्द्ध-शिक्षित हैं, इसलिए स्वाभिमान की सीमाएं कहां अक्खड़पन से मिल जाती हैं, यह नहीं जानते। मोल-भाव अधिक नहीं करते और सवारी को ऐसी दृष्टि से देखते हैं मानो वह लूट-मार में पकड़े हुए शत्रु-नागरिकों में से कोई हो।

परन्तु यह रिक्शा वाला यद्यपि सैनिक वर्दी पहने था, पर उसमें वह सैनिकों की-सी अकड़ न थी। मुख पर भी उसके अन्य फ़ौजियों की भांति सूखे हुए आटे का-सा तनाव न था, बल्कि गुंधी हुई लोई की-सी नर्मी और लचक थी।

"क्यों भाई, क्या तुम सेना में काम करते थे ?" श्रीवास्तव ने अकड़े बैठे-बैठे उकताकर, शरीर को तनिक-सा ढीला छोड़ते हुए पूछा।

रिक्शा वाले ने रिक्शा चलाते-चलाते तनिक पीछे की ओर देखा :

"नहीं साब, सेना में हम क्या काम करते !" और यह कहते हुए उसके ओठों पर व्यंग्य और उपेक्षा-भरी मुस्कान दौड़ गई, जिसमें हल्के-से दर्द की रेखा भी श्रीवास्तव की आंखों से छिपी न रही। वह मुस्कान मानो कह रही थी कि सेना की नौकरी जैसा निकृष्ट काम हम क्या करते।

"तो क्या रिक्शाएं चलाते हो ?" श्रीवास्तव का मतलब था कि चार-छः रिक्शा रखकर क्या उनकी आमदनी खाते हो ?

रिक्शा वाला हंसा। "अजी साब, कहां ? यहां तो यह रिक्शा भी अपना नहीं। किराये पर लेकर चलाते हैं।"

श्रीवास्तव को उसके स्वर में सभ्यता की यथेष्ट मात्रा लगी। उससे उसे सहानुभूति हो आई। "तो ऐसा जान-मारू काम तुम काहे को करते हो ?" उसने कहा, "रिक्शा चलाने से तो फेफड़ों पर बड़ा ज़ोर पड़ता है। दिन-रात हल और फावड़ा चलाने वाले देहाती तो खींच सकते हैं इन्हें, तुम्हारे ऐसे शहरियों के बस का यह काम नहीं।"

"जी हम क्या अपनी इच्छा से चलाते हैं। बीवी है, तीन-चार बच्चे हैं, मां है, दो विधवा बहनें हैं। इतने बड़े कुटुम्ब का खर्च अकेले हमीं पर है।"

"तुम कोई और काम क्यों नहीं कर लेते ?"

"हमको दूसरा कोई काम आता नहीं साब !"

"तो क्या तुम सदा से रिक्शा चलाते हो ?"

"जी नहीं, साब, जब से देस को आज़ादी मिली है।" रिक्शा वाले ने रिक्शा चलाते-चलाते दायें हाथ से माथा ठोंका और बोला, "अंग्रेज यहां से गए, काले साब उनकी जगह आए कि हमारी क़िस्मत फूटी। देसी साहबों को न हमारे काम की समझ, न परख। न हम उनके काम के, न वो हमारे। हमने तो अर्ज़ी दी थी कि हमको कोई दूसरा काम नहीं आता, हमको उन्हींके साथ विलायत भेज दीजिए, पर किसीने हमारी सुनी नहीं।"

"तो क्या करते थे तुम ?"

"हम कमिश्नर 'डक' के यहां काम करते थे। पचास रुपया महीना पाते थे, रहने के लिए दो कमरे थे, कपड़े साब देते थे। माफ़ कीजिएगा…" और रिक्शा वाला बात करते-करते संकोच से तनिक रुका।

"नहीं-नहीं, कहो।" श्रीवास्तव ने फिर अकड़कर बैठते हुए कहा।

"यह जो बुश्शर्ट आपने पहन रखी है," रिक्शा वाले ने पीछे को मुड़कर बड़े अदब से कहा, "ऐसी तो साब के यहां हम पहना करते थे।"

श्रीवास्तव फिर ढीला होकर बैठ गया। पीठ भी उसकी पीछे लग गई। और सूट के मसले जाने का भी उसे ध्यान न रहा।

"अंग्रेज़ों के राज में जो मौज ली, वह अब कहां !" रिक्शा वाला कहता गया। "दिन-त्योहार पर इनाम मिलते थे। हमारे ही नहीं, बीवी-बच्चों तक के कपड़े बन जाते थे। अब बताइए इतना हम कहां पाएं ? कैसे बीवी-बच्चों का खर्च चलाएं ? विवश रिक्शा चलाते हैं, ख़ून सुखाते हैं। किसी दिन इसी तरह टरक जाएंगे।"

"पर आखिर बात क्या है, तुम किसी देसी साहब के यहां काम क्यों नहीं करते ? कमिश्नर की जगह कमिश्नर है और कलक्टर की जगह कलक्टर।"

रिक्शा वाले ने रिक्शा चलाते-चलाते फिर पीछे की ओर तनिक देखा,

"देसी साब हमें क्या खाकर रखेंगे !" वह बोला और उसके ओठों पर वही विद्रूप-भरी मुस्कान फैल गई।

"क्या करते थे तुम कमिश्नर डक के यहां ?" श्रीवास्तव ने उत्सुकता-मिली झल्लाहट से पूछा, "कुक थे ?"

"जी नहीं, ख़ानसामागीरी हमसे नहीं होती।"

"तो क्या करते थे, बैरा थे ?"

"जी हां, बैरा थे !"

श्रीवास्तव फिर अकड़कर बैठ गया, "तो इसमें क्या बात है। तुम दूसरी जगह नौकरी कर सकते हो। हमारे यहां एक बैरा है।"

"जी नहीं, वैसे बैरा हम नहीं थे। हम खाना-वाना लाने का काम नहीं करते थे। हम साब के कपड़े देखते थे।"

"हां, हां, कपड़े-अपड़े देखते होगे, बूट-ऊट साफ़ करते होगे।"

"जी नहीं, बूट तो भंगी साफ़ करता था। हम सिर्फ़ कपड़े देखते थे।"

"क्या देखते थे कपड़ों का सारा दिन ?"

"अब साब, आपसे क्या बताएं, आप समझेंगे नहीं।" रिक्शा वाले ने ज़रा-सा मुड़कर मुस्कराते हुए कहा, "अंग्रेज़ लोगों की बड़ी बातें थीं। एक वक़्त एक सूट पहनते थे। रात का अलग, दफ़्तर का अलग, दिन के आराम का अलग, सैर-सपाटे का अलग, फिर डिनर सूट, गोल्फ़ सूट, पोलो सूट, डांस सूट, शिकार सूट। उनको ठीक जगह पर रखना, धोबी को देना, लेना, साब को पहनाना, यही काम हमारा था। देसी साब क्या समझें और परखें हमारा काम ? दिन-रात, महीनों-बरसों एक ही सूट घिसाए जाते हैं। यही साब, जिनकी लाल कोठी के पास से होकर अभी हम निकले हैं, बड़े भारी अफ़सर हैं, पर कभी-कभी ऐसा सूट पहनते हैं, जो लगता है, कालेज के दिनों का संभाले हुए हैं। जहां दफ़्तर लगाते हैं, वहां बाथ-रूम था। शनि की रात को क्या-क्या रौनक़ें होती थीं। और बग़ीचा देखा आपने, उसकी क्या दुर्गति हुई है ? कभी अंग्रेज़ साब के ज़माने में उसकी बहार देखते ? वही बग़ीचा क्या, यह सारी सिविल लाइन्ज़ पड़ी अंग्रेज़ साहबों के नाम को रो रही है। इतने बड़े-बड़े बंगले, इतने बड़े-बड़े बग़ीचे, रांड के सिर की तरह मुंडे दिखाई देते हैं।"

श्रीवास्तव को उस रिक्शा वाले की उपेक्षा और भारतीय रहन-सहन के प्रति उसका दुर्भाव बहुत बुरा लगा। यद्यपि वह स्वयं साहबी ठाठ-बाट से रहना पसन्द करता था, परन्तु उस समय उसे अंग्रेज़ी संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक वस्तु के प्रति क्रोध हो आया। उस 'अज्ञ' को तनिक-सा 'विज्ञ' बनाने के विचार से उसने कहा, "उनके और अपने खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन में,बड़ा अन्तर है। वे लोग मांस-मछली खाना, शराब पीना बुरा नहीं समझते। गाय और सुअर का मांस खाते हैं। हमारे यहां उसको छूना भी पाप है, उनकी औरतें नाचती हैं, हमारे यहां···"

"कुछ नहीं साब," रिक्शा वाले ने उसकी बात काटकर और रिक्शा के पैडल पर अपने जोश में और भी ज़ोर देते हुए कहा, "हम लोगों का देस ग़ुलामों का देस है! घोंघे की तरह हम अपने-आप में बन्द होकर रह गए हैं। ग़रीब होने से हमने ग़रीबी को स्वर्ग बना दिया है। धनी होने पर भी हम आदत से ग़रीब बने रहते हैं। रुपया बैंकों में जमा रखते हैं और दाल-रोटी पर सबर करते हैं। हमको हमारा साब बताता था कि भारत जब आज़ाद था, जब आर्या (आर्य) लोग इस देश में आए थे तो वे भी खूब खाते-पीते, नाचते-गाते और मौज मनाते थे। न यह पर्दा था, न खान-पान के यह बन्धन थे। हमको हमारा साब बताता था कि धन का लाभ उसे ख़र्च करने में है, बैंक में जमा करने में नहीं। रुपया खर्च होता है तो देश के कारीगर, मज़दूर, दुकानदार सब काम पाते हैं, नहीं तो बेकारी बढ़ती है। साब साल के साल फ़र्नीचर और दरवाज़ों-खिड़कियों पर रोग़न कराते थे। छः महीने में वाइट-वाश कराते थे। दो माली, दो बैरे, ख़ानसामा, धोबी, भंगी उनके यहां नौकर थे। फिर उनके दम से डबल रोटी वाले, अण्डे वाले, कुर्सी-मेज़ वाले और न जाने कौन-कौन रोज़ी पाते थे···"

श्रीवास्तव के हृदय में ज्वाला-सी लपकी। उसका जी चाहा कि वहीं उठकर उस 'साहब के कुत्ते' की गुद्दी पर ज़ोर का एक घूंसा दे, लेकिन रिक्शा काफ़ी तेज़ चला जा रहा था। तब उसने अपना क्रोध अपने परवर्ती गोरे अफ़सरों पर निकाला।

"उन सालों का क्या है? जनता को लूटते और मौज उड़ाते थे।"

"जनता को ये क्या कम लूटते हैं?" रिक्शा वाले ने पलटकर बड़ी

मिसकीन व्यंग्यमयी हंसी के साथ कहा, "छोटे से लेकर बड़े अफ़सर तक सब खाते हैं। वहां तो बड़े अफ़सर कुछ संकोच भी करते थे। यहां तो आपाधापी मची है। बस लेना जानते हैं, देना नहीं जानते। अंग्रेज़ लेता था तो दस आदमियों का पेट पालता था। ये खाते हैं तो जमा करते हैं। खाएं-उड़ाएं भी क्या, आदत भी हो। वही धोती-कुर्ता पहने बाहर-भीतर सब जगह बने रहते हैं। पन्द्रहवें-बीसवें, महीने-दो महीने पर हजामत बनवाते हैं। नाई, धोबी, बैरा, खानसामा क्या पाएंगे इनसे?"

श्रीवास्तव मन ही मन उमठ-सा गया। पर चुप बना रहा कि क्या उस कमीने के मुंह लगे।

"दूर क्यों जाइए," रिक्शा वाला अपनी रौ में कहता गया, "रिक्शे-तांगे वालों को ही ले लीजिए। बड़े से बड़ा सेठ रिक्शा करेगा तो मोल-भाव करना न भूलेगा। यहीं एलनगंज में एक आनरेरी मजिस्ट्रेट रहते हैं, बड़े आदमी हैं। चौक में उनका एक प्रेस भी चलता है। सदा यहां अड्डे पर आ खड़े होते हैं और चाहते हैं कि एक ही सवारी के पैसे देने पड़ें। दूसरी सवारी न हो तो आध-आध घण्टे खड़े रहते हैं। अंग्रेज़ मामूली फ़ौजी भी हो तो कभी मोल-भाव न करता था। फिर जेब में रुपया हुआ तो रुपया दे दिया और दो हुए तो दो दे दिए। एक बार हमारे साब की मोटर बिगड़ गई थी। यहीं एलनगंज से कचहरी जाने में पांच रुपये का नोट उन्होंने रिक्शा वाले को दे दिया था।"

गजानन का घर आ गया था। श्रीवास्तव उचककर उठा। परन्तु वहां जाकर मालूम हुआ कि वह है नहीं। अपना कार्ड छोड़ श्रीवास्तव मुड़ा और रिक्शा वाले से उसने कहा कि जल्दी से चले। कचहरी के सामने उतरते वक्त श्रीवास्तव ने घड़ी देखी। एक घण्टा दस मिनट हुए थे।

दूसरा वक्त होता तो वह दस आने घण्टे के हिसाब से बारह आने से अधिक न देता, पर इस रिक्शा वाले को बारह आने देने में उसे हिचकिचाहट हुई। साहबों की क़ब्र पर लात मारते हुए उसने कहा:

"एक घण्टे से कुछ ही मिनट ऊपर हुए हैं। दो घण्टे भी लगाएं तो एक

रुपया चार आने होते हैं, पर यह लो दो रुपये। चौदह आने हमारी ओर से बख़शीश समझ लो।''

रिक्शा वाले ने लगभग फौजी ढंग से सलाम किया और श्रीवास्तव गर्व से एड़ियों को तनिक और उठाता हुआ डी० एम० की कोठी की ओर चला।

''क्यों क्या मिला ?''

पहले रिक्शा वाले ने, जो अभी तक अड्डे पर खड़ा था, ज़ोर से पूछा।

''दो रुपये !''

''दो रुपये-ये !''

''हां, दो रुपये ! किसी देसी अफ़सर से मैंने कभी कम लिया जो इससे लेता। साले इन काले साहबों से निबटना मैं ही जानता हूं।''

अन्तिम वाक्य की भनक श्रीवास्तव के कानों में पड़ गई। उसकी उठी हुई एड़ियां बैठ गईं। शरीर का तनाव और चाल की अकड़ कम हो गई और वह साधारण आदमियों की तरह चलता डी० एम० के बंगले में दाखिल हुआ।

१९५०

जब सन्तराम ने बेलना उठाया

सन्तराम मेरा नौकर न था, बस सलाम-दुआ ही का नाता था। मेरे कमरे के ऊपर की मंज़िल में एक सिन्धी सेठ के यहां काम करता था। कांगड़े का रहने वाला था। कभी खत-पत्र पढ़ाने मेरे पास आ जाता और इसी नाते मेरे कुछ छोटे-मोटे काम भी कर देता। साढ़े पांच हाथ का गौर-वर्ण हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति था, किन्तु विनम्र इतना कि जब तक बातें करता, ध्यान नीचे ही रहता।

एक दिन पड़ोस में कुछ शोर सुनकर मैं अपने दरवाज़े की चौखट पर जा खड़ा हुआ। तभी सन्तराम मेरे सामने से भागता हुआ-सा गया।

"क्या बात है?" मैंने पूछा।

"जी कुछ झगड़ा हो रहा है, अभी आकर बताता हूं," जाते-जाते उसने कहा।

चन्द मिनट बाद वह वापस आ गया। मालूम हुआ कि पड़ोस के सेठ की जो नई दूसरी पत्नी आई है, वह नौकर छोकरे को बड़ा तंग करती है। उसने नौकर को गाली दी। छोकरा जवान है, उससे सहन नहीं हुई। उसने विरोध किया तो 'बुड्ढे पति की उस लाड़ली' ने दड़ से थप्पड़ उसके मुंह पर जमा दिया। उसने अपना हिसाब मांगा तो कहने लगी कि बिना नोटिस दिए तू जा कैसे सकता है? छोकरे ने ज़िद की तो बुढ़ऊ भी अपनी पत्नी की सहायता को आ गए और उन्होंने भी चार-छः थप्पड़ लड़के को जड़ दिए। शोर सुनकर पड़ोसी इकट्ठे हो गए। परन्तु समझौता हो गया है।

छोकरे ने पन्द्रह दिन काम करना स्वीकार कर लिया है और सेठ ने पन्द्रह दिन के बाद उसे छुट्टी देने की बात मान ली है।

"साला छः हाथ का गबरू जवान है," झगड़े की रिपोर्ट देकर सन्तराम ने अपनी ओर से जोड़ा, "थप्पड़ और गालियां खाकर यदि उत्तर न दे सकता था तो काम तो छोड़ सकता था।"

उसकी आंखें ऐसे लाल हो रही थीं, जैसे अपमान छोकरे का नहीं, उसका हुआ हो।

"अब तो साहब, बीवी है, दो बच्चे हैं और घर की ज़रूरतों ने खून की गर्मी निकाल दी है। चार बातें सुनकर भी चुप रहना सीख गए हैं," सन्तराम कह रहा था, "नहीं, जब मैं इस छोकरे की उमर का था, एक मालकिन ने मुझे गाली दी थी। मैं खाना पका रहा था, बेलना उठाकर भागा, यदि वे किवाड़ बन्द न कर लेतीं तो मैं सिर फोड़ देता।"

अफ़लातून ने कहा है, बाहर से देखकर भीतर की बात नहीं जानी जा सकती। लोकोक्तियां गढ़ने में दक्ष किसी लेखक ने इसीको दोहराकर लिख दिया—'सभी जो चमकता है, सोना नहीं होता'। मैं जिस व्यक्ति को विनम्रता की प्रतिमूर्ति समझे हुए था, वह इतना बर्बर भी हो सकता है, इसकी कल्पना मैंने कब की थी? बेलने की बात सुनकर कुतूहल बढ़ा। पूछा, "क्या बात थी सन्तराम?"

"कुछ नहीं साहब," सन्तराम अपनी बलिष्ठ देह लिए हुए मेरे बैठकखाने के सामने दूसरे मकान की सीढ़ी पर उकड़ूं बैठ गया और बोला, "मैं उन दिनों एक नया-नया बड़े साहब के घर नौकर हुआ था। बीस बरस की उमर थी, खून गर्म था, काम से कभी जी न चुराता था और सोना भी सामने पड़ा हो तो कभी हाथ न लगाता था। मेरा चचा उन साहब के दफ़्तर में चपरासी था। उनको अच्छे रसोइये की ज़रूरत थी और एक बड़े होटल में काम करने के कारण मैं बहुत बढ़िया खाना पका लेता था। अपने चचा के ज़ोर देने पर मैं उनके यहां नौकर हो गया।

"साहब बारह-तेरह सौ पाते थे और बड़े अच्छे स्वभाव के थे। मेम साहब उमर में भी उनसे बहुत छोटी थीं, और स्वभाव की भी बड़ी गुस्सैल थीं। नौकरों को बहुत तंग करती थीं। जब से आई थीं, कई नौकर बदल

चुकी थीं। मैंने साहब से कह दिया कि साहब हम काम देंगे, पर इज़्ज़त नहीं देंगे। खाने की बात है, आपको कैसा पसन्द है, यह जानने में कुछ दिन लग जाएंगे। एक बार पता चल जाए, फिर काम बिगड़े तो कहिए; पैसे-पाई का नुकसान हो जाए तो गर्दन मारिए, पर बेक़सूर गाली हम न सुनेंगे। पचीस नहीं, चाहे पचास रुपया पगार दीजिए।

"साहब को मेरा खाना बड़ा पसन्द था और मुझे उनसे कोई शिकायत न थी। पर मेम साहब उनकी तीसरी पत्नी थीं। थीं भी किसी छोटे ख़ान-दान की। गाली देना उनका स्वभाव था। एक दिन मैं बैठा रोटी बेल रहा था कि उनसे पांच का नोट कहीं खो गया। मुझसे पूछा तो मैंने कहा, "मैंने नहीं देखा।" इसपर बड़ा बिगड़ीं और लगीं अंट-संट बकने।

"मैंने कहा, 'यह तो पांच रुपया है, पांच सौ भी हो तो मैं थूकता नहीं...'

"चिल्लाकर बोलीं, 'हमारे रुपये क्या थूकने के लिए हैं ? क्या बकता है हरामी...'

"लेकिन अभी गाली उनके मुंह ही में थी कि मैंने कहा, 'गाली दी आपने ?' और बेलना उठाकर उनकी ओर भागा।

"उन्होंने डरकर दरवाज़ा बन्द कर लिया और तब तक नहीं खोला जब तक साहब नहीं आ गए। खाना खाने भी वे नहीं निकलीं।"

सन्तराम चुप हो गया। पर मेरी उत्सुकता मुखर हो उठी। मैंने पूछा, "तो साहब कुछ बोले नहीं ?"

"मैंने उनसे आते ही कह दिया," सन्तराम बोला, "कि साहब, मेम साहब ने हमपर चोरी लगाई और बड़ी भारी गाली दे डाली। हमारे हाथ में बेलना था। क्रोध में जाने क्या हो जाता ? आप दया कर हमको छुट्टी दीजिए। जितने दिन काम किया है उसकी पगार देना चाहें, दीजिए, न देना चाहें, न दीजिए। अपना घर संभाल लीजिए, हम चले जाएंगे।

"साहब दफ़्तर से आए थे। थके हुए थे। उन्होंने सुन लिया और कुछ नहीं बोले। जब मेम साहब ने उनके जाने पर दरवाज़ा खोला और मेरी शिकायत की तो उन्होंने मुझे बुलाया। बोले, 'बेलना लिए तुम क्या कर रहे थे ?'

" 'रोटी वेल रहा था।'

" तब वे अपनी पत्नी को समझाते हुए वोले, 'वेलना तो उसके हाथ में था ही, वह उससे तुम्हें मारने थोड़ी आया था। यही वात है न सन्तराम ?' उन्होंने मुझसे पूछा।

" 'जी !' मैंने कहा। और क्या उत्तर देता ? वे किवाड़ वन्द न कर लेतीं तो मैं सिर तोड़ देता, पर सच्ची वात कहकर साहव की वात मुझसे रद न हुई। नया-नया आया था और फिर सत्य तो मैंने एक तरह कह ही दिया था।"

सन्तराम फिर चुप हो गया। वैठा-वैठा जाने किन विचारों में खो गया और मैं सोचने लगा, विचित्र अफ़सर थे वे। मैं नौकरों के साथ न्याय का भारी पक्षपाती हूं, पर यदि ग़लती करने पर भी कोई नौकर मेरी पत्नी पर हाथ उठाए तो अपनी समस्त न्याय-प्रियता के वावजूद मैं उसका सिर तोड़-कर रख दूं।

सन्तराम जाने लगा था, मैंने फिर पूछा, "तो उसी दिन नौकरी छोड़ दी तुमने ?"

"जी नहीं, साहव ने मुझे नहीं छोड़ा। फिर तो मैंने वहां छः वरस काम किया।"

"मेम साहव ने कुछ नहीं कहा ?"

"उन्होंने दो-चार वार तंग करने की कोशिश की। शिकायत भी की, लेकिन फिर तो वे ऐसी राम हुईं कि···कि···अव मैं आपसे क्या कहूं !"

अन्तिम वाक्य कहते-कहते सन्तराम अपनी अधेड़ उमर के वावजूद शरमा गया। होंठों पर आई मुस्कान को रोक और आंखों में कौंधनेवाली चमक को दवा, सिर झुकाए हुए ऊपर भाग गया।

· · · · ·

और जहां सन्तराम ने अपनी कहानी समाप्त की, वहीं से एक वैवाहिक ट्रजेडी धीरे-धीरे मेरे सामने खुल गई।

१९४७

काकड़ां का तेली

"अढ़ाई रुपये !" मौलू ने सिर हिलाकर अपनी पत्नी की ओर देखा—उन आंखों से, जो मानो कह रही थीं कि कम्बख़्त तांगे वाले की अक़्ल शायद घास चरने चली गई है !

अभी मुश्किल से आठ-साढ़े आठ का वक्त होगा, किन्तु दिन पहाड़-सा निकल आया था। सूरज बिलकुल सिर पर मालूम होता था। गर्मी इतनी थी कि दम घुटा जाता था। गर्द की हल्की-सी धुंध चारों ओर छाई हुई थी और इस कारण किरणें यद्यपि सीधी न पड़ती थीं तो भी शरीर के नंगे भागों में नोकें-सी चुभती हुई महसूस होती थीं।

मौलू ने अपनी बड़ी-सी पगड़ी को ठीक किया, जिसे उसकी पत्नी ने रात को रीठों के पानी से धोया था और चावलों की कनी को पकाकर कलफ़ लगाया था और जिसे दोनों सिरों से पकड़कर उसकी दोनों बेटियों ने आंगन में चक्कर लगाकर सुखाया था और जो रात-भर तह करके रखी रही थी और इस समय उसके सिर पर चमक रही थी और सिर के झटके से एक ओर को हो गई थी। फिर उसने अपनी सफ़ेद दाढ़ी पर (जो ओठों के पास पीली-सी हो गई थी।) हाथ फेरा, गठरी को बायें कन्धे पर करके दायें हाथ से तहमद को ज़रा-सा झटका दिया और चल पड़ा।

बीबां, उसकी पत्नी ने सामने जाते हुए तांगे के पीछे उड़ती हुई धूल में आंखें गड़ा दीं और बोली, "अढ़ाई रुपये ! इतने से तो पन्द्रह दिन का ख़र्च चल सकता है, और नहीं तो फ़ज्जे की दो कमीज़ें या मेरे नन्हे चिराग़ की

कई कुर्तियां बन सकती हैं।" और उसने गोद के उबली-उबली, सूजी-सूजी आंखों वाले काले-स्याह बच्चे को मुहब्बत से चूम लिया।

जूते के साथ गर्द उड़कर मौलू के तहमद पर पड़ रही थी। रात उसकी पत्नी ने पगड़ी और कमीज़ के साथ उसको भी धोया था और नील भी दिया था, जो शायद रात के अंधेरे में अधिक दिया गया था, क्योंकि तहमद की सफ़ेदी में हल्की-सी नीलाहट साफ़ दिखाई दे रही थी और ज्यों-ज्यों गर्द पड़ती थी, वह और भी उभरती थी—मौलू ने फिर एक झटका देकर तहमद को ऊपर खोंस लिया। "इन साले तांगे वालों ने सड़क का सत्यानास कर दिया है, मिट्टी मैदा बन गई है।"—और उसने अपनी पत्नी और उसके पीछे आनेवाली दोनों लड़कियों और सात-आठ वर्ष के बच्चे से कहा कि वे सड़क छोड़कर मेड़-मेड़ होकर चलें।

वहां तो सिर्फ़ तांगे ही चलते थे, लेकिन जब मौलू तीन-चार मील चलकर भीलोवाल के पास पहुंचा, जहां मोटर-लारियां भी तशरीफ़ लाती थीं और बकरियों और भेड़ों का एक रेवड़ 'मैं-मैं' 'भैं-भैं' करता हुआ क़स्बे से निकला और रात-भर बाड़े में बन्द रहने के बाद चंचल और शोख़ बकरियां (जो माएं न बनी थीं और जिनके स्तन इतने भारी न थे कि उनके नीचे थैली की ज़रूरत पड़े) और जीवन की कटु वास्तविकता से अनभिज्ञ मेमने कुलाचें भरने लगे तो मौलू को इस मैदे की यथार्थता का पता लगा—गर्द इस तरह उड़ी कि उसके लिए आंख खोलना और मुड़कर अपने बच्चों को देखना तक असम्भव हो गया।

जब तूफ़ान कुछ थमा औद बकरियों और भेड़ों की आवाज़ों को दबाती हुई चरवाहों की कर्कश गालियां श्रवण-शक्ति की सीमा से परे चली गईं तो मौलू सड़क को पार करके दूसरी ओर गेहूं के कटे हुए खेत में जा खड़ा हुआ। गठरी उसने उतारकर धरती पर रख दी, तहमद और कमीज़ को अच्छी तरह झाड़कर उसने सिर से पगड़ी उतारी और उसे भली भांति झाड़ा; कमीज़ के दामन को उलटा करके उससे मुंह पोंछा; फिर पगड़ी बांधी और अपने बीवी-बच्चों को आवाज़ दी कि वे भी सड़क के इस किनारे आ जाएं।

धूल जैसे दाईं ओर धरती और आकाश के मध्य जाकर लटक गई थी।

एक लम्बी-सी लकीर वहां बनी हुई थी। ज्यों-ज्यों रेवड़ आगे बढ़ता जाता था, यह लकीर भी बढ़ती जाती थी। इस बढ़ती हुई लकीर की ओर देखकर और दिल ही दिल में चरवाहों को कई अश्लील गालियां देकर आख़िर मौलू ने कहा, "बदतमीज़, नहीं जानते कि रास्ते में शरीफ़ लोग जा रहे हैं, ज़रा खबरदार ही कर दें कि भई एक तरफ़ हो जाओ। बस उड़े चले जाते हैं, जैसे मुहिम सर करने जा रहे हों—हरामज़ादे!" और उसने अपनी मूंछों को दो बार प्यार देते हुए अपनी दाढ़ी पर हाथ फेर लिया।

'शरीफ़' से मौलू का क्या अभिप्राय था—यह बात उसे स्वयं मालूम न थी। वह 'काकड़ां' का तेली था—गांव के इस किनारे, जहां बरगद का एक महान विटप बढ़कर आधे जौहड़ को अपने अधिकार में ले चुका था, उसने एक छोटा-सा कोल्हू लगा रखा था। जौहड़ के किनारे-किनारे रूड़ियों[1] के ढेर लगे हुए थे। कभी जब वर्षा होती तो जौहड़ का पानी अपने किनारों के ऊपर से वह निकलता, मार्ग अवरुद्ध हो जाते, टांगें घुटनों तक कीचड़ में धंस जातीं और रूड़ी के ढेरों की दुर्गन्ध वट के साये की नमी में जैसे वहीं जमकर रह जाती—लेकिन अपने जीवन के पचपन वर्ष मौलू ने इसी स्थान पर व्यतीत किए थे। गांव से बीस मील परे क्या होता है, इसकी उसे कभी ख़बर न हुई थी। जीवन में शायद तीन-चार ही ऐसे अवसर आए थे, जब उसे ऐसे धुले हुए कपड़े पहनने को मिले थे। ईद पर हर साल वह अवश्य कपड़े बदला करता था, किन्तु उसका कपड़े बदलना यही होता कि नंगे बदन रहने के बदले वह उस दिन कमीज़ भी पहन लेता या बीबां अधेले के रीठे लेकर उन्हें मल डालती, नहीं उसकी आयु तो तेल में सने काले, चीकट कपड़ों में गुज़र गई थी। कपड़ों में क्या—आयु का अधिकांश भाग तो उसने मात्र एक तहमद में गुज़ार दिया था। जिस तरह पास रहते हुए भी जौहड़ के गन्दे पानी और उसके किनारे लगे हुए गन्दगी के ढेरों में उसके लिए कोई दुर्गन्ध न रही थी, इसी तरह तेल और पसीने से तर, गन्दे, मैले, जीर्ण-जर्जर कपड़ों के लिए भी उसकी संज्ञा मर गई थी। और रही गर्द, तो मात्र तेल के काम से इस गांव में आजीविका की सूरत न देखकर, उसने वहीं कोल्हू

१. रूड़ी—गन्दगी

के एक ओर चाक लगा रखा था जहां वह घड़े, कुज्जे, लोटे, दौरियां, मटके बनाया करता था। वह जाति से कुम्हार था या तेली?—इस बात का स्वयं उसे पता न था। अपने दादा और फिर पिता को उसने यही काम करते देखा था और जब से उसने होश संभाला था, वह यही काम किए जा रहा था। जब उसके हाथ तेल में न होते तो मिट्टी में होते। रही शिक्षा, तो कुराने-पाक की कुछ आयतों के अतिरिक्त (जो वह ग़लत उच्चारण के साथ बड़ी तन्मयता से पढ़ा करता था) उसने वे सब गालियां सीखी थीं जो उसके दादा, फिर बाप और फिर बड़े भाई दिया करते थे। किन्तु आज इस मिट्टी और इस वातावरण के विरुद्ध, जिसमें कि वह जन्मा, पला और परवान चढ़ा, जो ऐसी घृणा की भावना उसके मन में उत्पन्न हो गई और वह अर्ध-नग्न, जीर्ण-शीर्ण तहमदों में आवृत, अपने कपड़ों के अभाव की ओर से बेपरवाह चरवाहों को 'बदतमीज़' और 'असभ्य' सयझने लगा तो इसका कारण था। पहले तो यह कि वह अपने उस छोटे भाई के लड़के की शादी में शामिल होने के लिए जा रहा था जो लाहौर रहता था और देहाती की अपेक्षा अधिक शहराती हो गया था, फिर देहातियों के लिए शहर वाले शरीफ़ होते हैं और चूंकि वह स्वयं एक शरीफ़ आदमी के लड़के की शादी में जा रहा था, इसलिए वह भी शरीफ़ ही था, फिर यह कि उसने अत्यन्त साफ़-सुथरे कपड़े पहन रखे थे—और शराफ़त तो एक आपेक्षिक-सी चीज़ है—शरीफ़ वह है जो शरीफ़ नज़र आए और 'काकड़ां' में रहते हुए वह जो कुछ भी हो, इस रास्ते पर जाता हुआ काफ़ी शरीफ़ और प्रतिष्ठित मालूम होता था।

वैरोके के समीप एक खाल[1] पानी से भरी, किसी बड़े अजगर की भांति मज़े से रींग रही थी। मौलू ने उसे पार किया, फिर गठरी रखकर हाथ बढ़ा, बच्चे को थामा और अपनी पत्नी को खाल पार करने में सहायता दी। रहमां पहले स्वयं छलांग मारकर इधर आई, फिर उसने फ़ज्जे को पार उतरने में मदद दी, किन्तु लहरां के जूते की एक मेख़ उभर आई थी और

१. खाल—रजबाहा

उसकी दाईं ऐड़ी में घाव हो गया था। नीचे धरती गर्म लोहे की भांति तप रही थी, इसलिए वह नंगे पांव चलने का साहस न कर सकी थी और एड़ी उठाए, अपने दुपट्टे से गर्दन पर निचुड़ते हुए पसीने को पोंछती हुई चली आ रही थी और बहुत पीछे रह गई थी।

"अरी तू अब तक पीछे ही लटकती हुई चली आ रही है; पांव तेरे टूट गए हैं क्या?" और पल-भर के लिए अपनी शराफ़त को भूलकर मौलू ने एक अश्लील गाली अपनी लड़की को दे डाली।

"मुझसे चला नहीं जाता," लहरां ने जैसे रोते हुए कहा।

मौलू ने गठरी उठाकर जामुन के एक पेड़ के नीचे रख दी। "ला इधर, मैं इस मेख़ को ठीक कर दूं! अभी ग्यारह-बारह मील हमें जाना है।"

बीवां अपने आंचल से अपने-आपको हवा करती हुई वहीं वृक्ष के नीचे घास पर बैठ गई और नन्हे को दूध पिलाने लगी।

रहमां ने ख़ाल के पानी से मुंह धोया और गीले हाथ फ़ज्झे के मुंह पर फेरे। और खाल पर पहुंचकर लहरां ने जूते अपने बाप की ओर फेंक दिए और फिर फलांगकर इस ओर आ गई, किन्तु पांव उसका अब भी लंगड़ा रहा था।

मौलू ने मेख़ को देखा—उसकी पतली-सी नोंक, जिसका मुर्चा घाव की नमी के कारण साफ़ हो गया था, किसी नव-वय के विद्रोही की तरह सिर उठाए चमक रही थी। कहीं से ईंट का एक टुकड़ा ढूंढ़कर मौलू ने उस नोक को तोड़ दिया। फिर निरन्तर चोटों से उसे बहुत ज़्यादा अन्दर धकेल दिया और मुंह पर पानी के छींटे मारकर उसे तहमद के दामन की उल्टी तरफ से पोंछता हुआ कुछ क्षण सुस्ताने के लिए अपनी पत्नी के पास आ बैठा।

"वैरोके तो बस पास ही है, इस आमों के बाग़ के पीछे; यहां से सुनते हैं अटारी दस मील है। तो मज़े से तीसरे पहर वहां जा पहुंचेंगे।" और फिर तांगे वाले की बात का ख़याल आ जाने से उसे हंसी आ गई, "साला अढ़ाई रुपये मांगता था। छः मील तो हम आ गए हैं।"

"अढ़ाई रुपये," उसकी पत्नी ने कहा, "जैसे हमारे यहां रुपयों के ख़ज़ाने हों। वहां जाएंगे तो क्या हसन खां के बच्चों के लिए कुछ न लेकर

जाएंगे ?''

यह हसन खां, जो अपने जीवन के पैंतीस वर्ष तक गांव में सिर्फ़ 'हस्सू' के नाम से पुकारा जाता रहा, लाहौर में ईश्वरसिंह सरकारी ठेकेदार का मेट था। जब लोपोके की नहर बननी शुरू हुई तो न जाने किस तरह, मौलू आज तक इस बात को नहीं समझ सका, हस्सू जाकर उसके मज़दूरों में शामिल हो गया। छः आने दैनिक मज़दूरी पर। फिर ठेकेदार ईश्वरसिंह ने खुश होकर उसे पांच रुपये महीने पर मेट बना लिया, फिर आठ कर दिए और जब उस काम को खत्म करके ठेकेदार ईश्वरसिंह लाहौर चला गया तो अपने इस विश्वसनीय मेट को भी साथ ले गया। उसी दिन से 'हस्सू' 'हसन खां' बन गया था। गांव में जब वह एक बार आया तो चौड़े पांयचों की शलवार, बोस्की की कमीज़ और सिर पर कुल्लेदार साफा उसने पहन रखा था, जिसका तुर्रा एक फूल की भांति खिला हुआ था—मौलू चकित रह गया था और समझ न पाया था कि किस तरह उसके इस छोटे भाई ने इतना ओहदा और इतना इल्म प्राप्त कर लिया है !

इस जामुन की छाया में बैठे-बैठे, अपनी तहमद की गांठ खोलकर मौलू ने सब पैसे निकाले। अधिकांश पर मिट्टी और तेल की काली तह जम गई थी और यद्यपि धरती से निकालकर तहमद में बांधने से पहले उसने उन्हें अच्छी तरह धो लिया था, तो भी तहमद का वह हिस्सा, जिसमें पैसे बांधे गए थे, काला हो गया था।

यद्यपि घर से वह उन्हें गिनकर लाया था और यद्यपि चन्द पैसों के सिवा उनमें से कुछ अधिक खर्च न हुआ था, तो भी घास पर तहमद का एक पल्ला बिछाकर उसने उन्हें दोबारा गिना—चार रुपये और कुछ आने थे। और यह रक़म उसने बड़ी कठिनाई से पैसा-पैसा करके साल-भर में जमा की थी, बल्कि यों कहना चाहिए कि दो साल में जमा की थी। ज्योंही हस्सू का लड़का आठ वर्ष का हुआ और उसकी सगाई हुई, उन्हें इस बात की चिन्ता हो गई थी कि उसका निकाह बस अब समीप ही है, इसलिए उन्हें कुछ न कुछ बचाना चाहिए और चूंकि हस्सू लाहौर चला गया था और उसने यह भी जता दिया था कि वह लड़के की शादी लाहौर ही करेगा, इसलिए दो साल से वे इस विवाह में जाने के लिए कुछ न कुछ बचाने का

प्रयास करते आ रहे थे और दो साल से ही बच्चे इस विवाह में शामिल होने के खयाल से इस बात का ज़िक्र करके कि उन्हें वहां क्या-क्या खाने को और क्या-क्या उपहार-स्वरूप मिलेगा, ख़ुश हो रहे थे। किन्तु गत वर्ष मौलू केवल दो रुपये बचा पाया था और इस वर्ष सिर्फ़ दो रुपये और कुछ आने।

और इन दो वर्षों में उसने परिश्रम भी कम न किया था। जितनी सरसों वह प्राप्त कर सकता था, उसने प्राप्त की थी और जितना तेल इर्द-गिर्द के गांवों में बेचा जा सकता था, उसने बेचा था। अपनी सप्लाई को बढ़ाने के लिए उसने सरसों में तोरिया मिलाने में भी संकोच न किया था और जब उसके ग्राहकों ने शिकायत की थी कि तेल बालों में ज़्यादा लगता है तो उसने बड़े गर्व से कहा था कि खालिस कच्ची घानी का जो हुआ, नहीं नाखालिस तेल यदि लगाओ तो यह भी पता नहीं चलता कि बालों में कोई तेल लगा है या नहीं! फिर फसल के दिनों में उसने कटाई का काम भी किया था और पीर दौले शाह और क्रीम शाह की खानकाहों पर लगने वाले मेलों में घड़ों और मटकों की दुकानें भी लगाईं थीं, लेकिन इसपर भी वह गत वर्ष में यही कुछ बचा पाया था। और बिना सालन की रूखी रोटी के सिवा उन्हें कभी कुछ प्राप्त न हुआ था। यह ठीक है कि इस विवाह के खयाल से उसने अपनी बीवी और बेटियों को गबरून की एक-एक कमीज़ और दरेस की एक-एक सुथनी सिलवा दी थी, स्वयं भी एक तहमद और साफ़ा ख़रीदा था और फ़ज्जे को भी एक तहमद ले दी थी, लेकिन इन सबके लिए तो वह भीलो शाह का कर्ज़दार था जिससे उसने वादा किया था कि अगले वर्ष वह जितना तेल निकालेगा, उसकी दुकान में डाल देगा।

वहीं बैठे-बैठे मौलू ने हिसाब लगाना शुरू किया, "यदि हम अटारी से जाकर चढ़ें तो चार-चार आने तो मोटर का किराया लगेगा, इस तरह साढ़े चार टिकटों के···"

"लेकिन साढ़े चार किस तरह?" उसकी पत्नी ने बात काटकर कहा, "फ़ज्जे का टिकट किस तरह लग सकता है, अभी कल का तो बच्चा है, तुम उसे ज़रा गोदी में उठा लेना!"

"ये मोटर वाले एक ही शैतान होते हैं," मौलू ने कहना शुरू किया, "अगर मांगेंगे तो ? सुना है, तीन साल से बड़े का टिकट लगता है।"

"हां लगता है !" बीवां बोली, "वे न मांगें तो भी तुम दे देना !"

"तो ख़ैर एक रुपया टिकटों का सही और फिर शहर का मामला है। हसन ख़ां की वहां शान होगी। पैदल घिसटते हुए उसके यहां कैसे जाया जाएगा ? पड़ौसी न कहेंगे—कैसे भिखमंगे रिश्तेदार हैं इसके। तांगे तक पर नहीं आ सके।—तीन-चार आने तांगे पर भी ख़र्च करने पड़ेंगे।"

बीवां को इस बात का विश्वास था और अपने बच्चों को भी उसने कई महीने पहले कह रखा था कि चचा के घर से उन्हें बहुत कुछ मिलेगा, इसलिए उसने कहा, "एक रुपये की मिठाई हस्सू के बच्चों के लिए ले जाना जब वे हमारे बच्चों को इतना कुछ देंगे तो हम किस तरह खाली हाथ जाएंगे ?"

"ख़ैर," मौलू हिसाब लगाकर बोला, "सवा रुपया वापसी पर ख़र्च आएगा तो बाक़ी बड़ी मुश्किल से बारह आने-एक रुपया बचेगा।"

लहरां ने अचानक कहा, "मेरे पांव में छेद हो गया है, जूता मेरा बिलकुल घिस गया है, मुझे जूता ले देना।"

रहमां बोली, "मेरी चुनरी फट गई है, मुझे एक नई चुनरी ले दो, चचा की लड़की के सामने क्या मैं फटी चुनरी पहनूंगी ?"

मौलू की कमीज़ का दामन पकड़ते हुए फ़ज्जे ने कहा, "अब्बा, हमें बूट ले देना !"

"चलो बैठो !" बीवां ने एक झिड़की दी। "सात-आठ दिन वहां रहना है ! तो क्या अपने पास एक कौड़ी भी न रखेंगे ! फिर लम्बा रास्ता, शरबत-पानी की भी ज़रूरत पड़ जाती है।"

लोपोके के मोड़ पर उन्हें एक तांगा जाता हुआ मिला। लहरां के जूते की मेख़ फिर बाहर निकल आई थी, लेकिन उस घायल दिल की भांति जिसमें कुन्द-सा मज़ाक भी छेद कर देता है, वह कुण्ठित मुड़ी हुई मेख़ लहरां की घायल ऐड़ी को और भी घायल कर रही थी और वह लंगड़ा-लंगड़ाकर चल रही थी और काफ़ी पीछे रह गई थी और फ़ज्जा भी चिल्लाने लगा था कि उसे उठा लिया जाए और धूप की शिद्दत से बीवां की

गोद का बच्चा भी वेहाल होने लगा था।

मौलू ने वेपरवाही से तांगे की ओर देखते और जैसे ईंट फेंकते हुए पूछा, "क्यों भई ?"

"कहां जाना है ?" तांगा बिना रोके तांगेवाले ने पूछा।

"अटारी !"

"पांच-पांच आने !"

"पांच-पांच आने ?"

"तुम्हें क्या देना है ?"

लेकिन मौलू ने कुछ उत्तर न दिया। तहमद को फिर ऊपर खोंस, पगड़ी के शमले से गर्दन और मुंह का पसीना पोंछ, गठरी के बोझ से धीरे-धीरे दबने वाली गर्दन को उठाकर वह चल पड़ा।

लहरां और फ़ज्जे ने एक बार कहा, "अब्बा, तांगा···"

कड़ककर मौलू ने उन्हें चुप करा दिया। बीबां ने भी बच्चे को कन्धे से लगाकर झुलाते हुए ओठों का गोला बनाकर उसमें ज़बान हिलाते हुए ओ···लो···लो···करना आरम्भ कर दिमा और जब इसपर भी बच्चा न माना तो कमीज़ का बटन खोलकर उसने अपनी छाती निकाल उसके मुंह में दे दी।

सड़क बिलकुल कच्ची थी। सड़क तो उसे कहा भी न जा सकता था। किसी ज़माने में वहां ज़रूर सड़क रही होगी, किन्तु अब तो उसकी विशालता को देखकर उसपर किसी ऐसे दरिया का धोखा होता था, जिसके दोनों किनारे फैलते-फैलते आस-पास की ऊसर धरती में जा मिले हों—हां, दोनों ओर परांह के निरर्थक टेढ़े-मेढ़े पेड़—जिनके तने वर्षों से वर्षा-तप के कारण खोखले हो चुके थे और जो सड़क की सुन्दरता में वृद्धि करने की अपेक्षा उसकी कुरूपता को बढ़ाते थे; जिनकी लकड़ी जलाने तक के काम न आती थी; जिनके पत्तों को बकरियां तक न खाती थीं और जिनकी शाखाओं पर बयां तक का घोंसला न था—इस सड़क के अस्तित्व की गवाही देते थे। और कहीं कोई बबूल का कांटेदार वृक्ष अपनी लम्बी-लम्बी शाखाओं को सड़क पर झुकाए हुए खड़ा था कि यदि गर्मी के ताप से जलता हुआ कोई व्यक्ति छाया में आने का प्रयास करे तो उसकी पगड़ी उतर

जाए अथवा उसका चेहरा जख्मी हो जाए।

ईंट तो दूर, किसी कंकर तक का निशान वहां न मिलता था, इसलिए किसी विटप के तने पर रखकर किसी ढेले से गाड़ने के बावजूद जब मेख बार-बार बाहर निकल आती थी और ऐड़ी का घाव बढ़ता जाता था, और चलना उसके लिए प्रतिक्षण दूभर हुआ जा रहा था तो आखिर तंग आकर लहरां ने जूते हाथ में उठा लिए। धूल धधकती हुई राख की भांति जल रही थी और प्रायः जब गर्द में टखनों तक पांव धंस जाते तो समस्त शरीर में जलन की एक लहर दौड़ जाती थी। किन्तु मेख की चुभन से टीस की जो लहर दौड़ती थी, वह शायद जलन की इस लहर से अधिक कष्टदायक थी, इसलिए वह चली जा रही थी, किन्तु इसपर भी वह सबसे पीछे थी।

इतनी उमर बीत गई थी, पर मौलू कभी इस सड़क पर न आया था। यदि उसे मालूम होता कि यह सड़क इतनी ऊबड़-खाबड, वीरान और छाया-रहित है तो वह कभी इस ओर मुंह न करता—विशेषकर उस समय जब उसके साथ बच्चे थे—उसके कोल्हू पर तो वट की घनी छाया थी और निकटवर्ती देहात में कभी-कभी तेल लेकर जाने अथवा मिट्टी के घड़े-मटके लेकर भीलोवाल या वैरोके तक आने के अतिरिक्त उसने कभी इस ओर का सफ़र न किया था। उसकी दुनिया बरगद के एक घने पेड़ की छाया में बसती थी, जहां तपती-जलती हवाएं शीतल हो जाती थीं और गर्म धूप भी ठण्डक पहुंचाती थी और कभी जबवह खुदा के सामने नत-मस्तक होता और कुरान की आयतों को अपने ग़लत उच्चारण से पढ़ता तो खुदा का जो अस्तित्व उसके सामने आता, वह कुछ उस बड़े घने वट वृक्ष का-सा होता, बड़ी-बड़ी शाखाओं वाला, सायेदार, अगनित घोंसलों को अपनी शाखाओं में छिपाए हुए—लेकिन यह तपती वीरान दुनिया, हरियाली का एक तिनका भी नहीं और इस मरु में किसी जलते हुए तीर की भांति जलती-जलाती, तपती-तपाती यह सड़क! यदि उसे मालूम होता तो कभी बच्चों को यों साथ न लाता—कभी न लाता!

किन्तु इस खयाल को उसने तत्काल अपने दिल से निकाल दिया और वह फिर अकड़कर चलने लगा। तहमद को झटका देने अथवा कमीज़ को

झाड़ने का खयाल उसे कब का भूल चुका था—कोई साइकिल सवार या भूला-भटका राही भी गुज़रता तो उनपर मिट्टी की तह छा जाती और लू, जो कभी इधर से उधर और कभी उधर से इधर चलने लगती, शरीर में प्रवेश करके नसों तक को भुलसा रही थी और कभी-कभार कोई बगूला मिट्टी बरसाता हुआ निकल जाता था। तहमद का नीलाहट लिए सफेद रंग अब मटियाला हो गया था। पगड़ी की वह दमक न रही थी और कपड़ों की उल्टी तरफ़ से चेहरे या गर्दन का पसीना पोंछने के बदले अब वह सीधी तरफ़ को ही काम में लाए जा रहा था।

उससे कुछ अंतर पर उसकी पत्नी चली जा रही थी। उसके समस्त यत्न बच्चे को पुचकारने में लगे हुए थे, फिर रहमां थी—जिसे शायद उसके पड़ोसी ग्वाले नूरे का खयाल इस चिलचिलाती धूप की तपन को महसूस न होने देता था और शायद इस बरसती हुई आग में भी वह स्वप्न देखती चली जा रही थी—उसकी अंगुली थामे फ़ज्जा चल रहा था, जिसे कभी वह उठा लेती थी और कभी कमर, कन्धा या बांह थक जाने पर फिर उतार देती थी—फूल-सा चेहरा उसका कुम्हला गया था, ओठ सूख गए थे; गन्दे-मैले हाथों से बार-बार मुंह का पसीना पोंछने के कारण उसके चेहरे पर कई दाग लग गए थे और चाल उसकी उत्तरोत्तर धीमी होती जा रही थी।

और इन सबके पीछे पूर्ववत् कभी जूता पहनती और कभी उतारती हुई लहरां लंगड़ाती-लंगड़ाती चली जा रही थी।

नहर से उतरकर मौलू ने देखा—दाईं ओर एक बरगद का घना पेड़ है—मादा बरगद का, जिसका तना बहुत ऊंचा नहीं उठता, मोटी-मोटी, लम्बी-लम्बी, सिर को छूती हुई डालियां छतरी की तरह फैलती चली जाती हैं—उसकी एक शाखा पर दो मोर बैठे हैं, निश्चिन्त और मस्त! उनके लम्बे-लम्बे, चमकीले पंख धरती को छू रहे हैं और दूर किसी कुएं की गाधी पर बैठा हुआ कोई जाट 'हीर वारिस शाह'[1] अलाप रहा है। उसकी सुरीली, बारीक, लेकिन ऊंची आवाज़ इस सूनी, वीरान, निस्तब्ध दुपहरी में गूंजती, लहराती हुई उस तक आ रही है:

---

१. पंजाबी का अमर काव्य

'घर आ ननान ने गल्ल कीती, भावी इक जोगी नवां आया नीं।
कन्नीं ओसदे दरशनी मुन्द्रां ने, गले हैकला अजब सुहाया नीं!'[१]

अतीत के किसी दूरस्थ प्रदेश से आनेवाली स्मृति की तरह तरुणयौवन के वे दिन मौलू की आंखों के सामने घूम गए, जब वह अपने वट की शाखा पर बैठकर अथवा किसी आम या जामुन के तने से पीठ लगाए हीर वारिस शाह गाया करता था और उसके जी में आई कि वह पूरे गले से तान लगाए:

'फिरे ढूंढदा विच्च हवेलियां दे, कोई ओस ने लाल गंवाया नीं!
हीरे किसे रजवंस दा ओह पुत्तर, रूप तुद्ध थीं दून सवाया नीं!'[२]

किन्तु यह तान उसके हृदय में ही रह गई। अपनी लम्बी दाढ़ी, अपने शरीफ़ लिवास और अपने पीछे चले आनेवाले बीवी-बच्चों का उसे खयाल हो आया और उसके हृदय से बरबस एक दीर्घ निश्वास निकल गया।

तभी फ़ज्जे ने रोते हुए सूखे गले से कहा, "अब्बा, मुझे प्यास लगी है; अब्बा, मुझे उठा लो!"

और मौलू ने मुड़कर देखा—लहरां बेचारी थककर परांह की एक टेढ़ी-सी जड़ पर बैठ गई थी।

"मर गई वहीं तू!" कड़ककर मौलू ने कहा।

लहरां उठी और लंगड़ाती-लंगड़ाती चलने लगी। मौलू ने तब मुड़कर अपने बेटे को डांटा कि ज़रा दम ले, सामने 'चोगावां' नज़र आ रहा है। वहीं चलकर लस्सी-पानी पिएंगे।

और चोगावां तक वे दोनों किसी न किसी तरह चलते आए थे। लस्सी-पानी से अधिक उनके सन्तोष का कारण उनका यह खयाल था कि अब्बा वहां से अवश्य तांगा लेंगे। किन्तु जब कुछ सुस्ताने और सूखी रोटी को तेल के पकौड़ों के साथ (जो उनके अब्बा ने अड्डे से लिए थे) पानी की सहा-

१. घर आकर ननद ने कहा कि ए भाभी, एक नया जोगी आया है। उसके कानों में दर्शनीय वालियां हैं और गले में हैकल शोभा दे रही है।

२. हवेलियों में वह ढूंढ़ता फिर रहा है जैसे कि उसने कोई लाल खो दिया हो। ऐ हीर, वह तो किसी राजे का बेटा दीखता है, उसका रूप तुझसे भी सवाया है।

यता से पेट में पहुंचाने के बाद उन्हें फिर मार्च की आज्ञा मिली तो चल तो वे पड़े, लेकिन मार्च नहीं कर सके। चोगावां से 'वनीके' तक इस मार्च में कई हाल्टिंग स्टेशन आए, जबकि वे एक बीमार थके हुए घोड़े की तरह अड़ गए और झिड़कियां, गालियां या एक-दो चांटे खाकर फिर चल पड़े, किन्तु वनीके के मोड़ पर जो वे एक बार रुके तो फिर नहीं बढ़े। थप्पड़ खाने पर भी फ़ज्जा टस से मस न हुआ और गालियां खाकर भी लहरां बैठी दुपट्टे से आंसू पोंछती रही।

तांगे वाले से मौलू ने बिलकुल ही न पूछा हो, यह बात नहीं। पूछा था, किन्तु बिना सवार होने के खयाल से। और यह जानकर कि लोपोके से चोगावां तक वह गर्द का दरिया पार करने के बावजूद अभी तक किराये में मात्र एक आने की कमी हुई है और यह जानकर कि आगे सड़क पक्की है और कहीं-कहीं शीशम के वृक्ष भी हैं, वह चल पड़ा था।

जब थप्पड़ खाकर फ़ज्जा रोने लगा, लेकिन उठा नहीं तब बीबां ने उसे प्यार देकर उठाना चाहा और नन्हे को रहमां के हवाले करके उसे गोद में ले लिया। मस्तक पर हाथ फेरते ही वह सहमकर पुकार उठी :

"देखो तुम इसे पीट रहे हो, इसका पिण्डा तो भट्टी बना हुआ है !"

और तब ज्वर के वेग से तपे हुए अपने लड़के के चेहरे को देखकर मौलू पिघल उठा और उसने अनिच्छापूर्वक एक जाते हुए तांगे को रोका और अटारी का किराया पूछा।

"चार-चार आने," तांगे वाले ने उत्तर दिया।

"चार-चार आने, लेकिन इतना तो चोगावां से मांगते थे !"

"तुम क्या देते हो ?"

"एक-एक आना ले लो, तीन-साढ़े तीन मील हम चल भी तो आए हैं !"

तांगेवाले का तांगा तो भरा हुआ था, इसलिए उसे सवारियों की उतनी ज़्यादा परवाह न थी, "तो वहीं से जाकर चढ़ जाओ," उसने कहा और हण्टर घुमाया।

"छै-छै पैसे ले लो।"

"ओ तेरी मां मर जाए !" हण्टर घोड़े की पीठ पर पड़ा और वह

चल पड़ा।

"दो आने।"

"अढ़ाई आने!" उसने अपने कण्ठ की पूरी आवाज़ के साथ कहा।

तांगा काफ़ी दूरजाकर रुक गया। सवारियां तो पूरी थीं, किन्तु 'भागते भूत की लंगोटी ही सही' के अनुसार तांगे वाले ने ये दस-बारह आने छोड़ने उचित न समझे।

रहमां से बच्चे को लेते हुए चिन्तातुर स्वर में बीबां ने जैसे अपने-आपसे कहा, "इसका जिसम भी गर्म हो रहा है, अल्लाह खैर करे!" और वह तांगे की ओर बढ़ी।

यद्यपि जहां दो की जगह थी, वहां चार बैठे और सांस लेना तक मुश्किल हो गया तो भी सबने एक तरह से सुख की सांस ली।

जब पलक झपकते ही (कम से कम मौलू को ऐसा ही मालूम हुआ) अटारी का मोड़ आ गया और तांगेवाले ने कहा कि अगर जल्दी चढ़ना चाहते हो तो यहीं उतर जाओ, क्योंकि यहां से मोटर जल्दी मिलती है तो मौलू के दिल को धक्का लगा।

"अड्डा आ गया?" उसने पूछा।

"अड्डा तो आगे है, लेकिन यहां से जल्दी मोटर मिल जाएगी। अड्डे परबहुत देर बैठना पड़ेगा, वहां और भी होते हैं और आजकल ट्रैफिक पोलीस भी बड़ी सख्त हो गई है।"

ट्रैफिक पोलीस क्या बला है, यह बात तो मौलू की समझ में बिलकुल नहीं आई। उसने भ्रू-भंग करके तांगेवाले की ओर देखते हुए कहा, "यह चालाकियां मैं सब समझता हूं।"

किन्तु जब तांगे में बैठी हुई दो सवारियां वहीं उतर पड़ीं और जब दूसरों ने भी कहा कि अगर लारी जल्दी पकड़नी है तो यहीं उतर पड़ो तो वह भी उतरा, किन्तु सड़क पर पांव रखते ही वह गरजा, "बस यहीं तक लाने के बारह आने तुम मांगते हो!"

तांगे वाले ने बेपरवाही से कहा, "तुम्हारी मर्ज़ी है, तुम अड्डे तक चले चलो!"

मौलू का जी चाह रहा था, इस पाजी तांगेवाले को उतारकर सड़क

पर पटक दे। उसने चीखकर कहा, "तुम लुटेरे हो!"

तांगेवाले ने हण्टर उठाया, "ज़बान संभालकर बात करो मियां!"

तभी बीवां तांगे से उतरकर दोनों के मध्य आ खड़ी हुई, "तैश में न आओ भाई, हम पैसे मारकर न ले जाएंगे, आदमी-आदमी तो देख लिया करो तुम!"

मौलू कोई बड़ी अश्लील गाली देने लगा था, पर यह सुनकर गाली देने के बदले उसने वही काले स्याह, अड़तालीस पैसे, तांगेवाले के हाथ पर गिन दिए और शहीदी भाव से बच्चों को उतारने लगा।

"बारह आने तो इसे दे दिए, अब वहां किस तरह काम चलेगा," जाते हुए तांगे की ओर देखते हुए बीवां ने जैसे अपने-आपसे कहा।

मौलू चीखकर कुछ कहने ही लगा था कि उसकी दृष्टि अपने नन्हे बच्चे की ओर चली गई जिसका स्याह चेहरा ज्वर के वेग से और भी स्याह हो रहा था। उसने उसके माथे पर हाथ रखा, कुर्ती उठाकर पेट को देखा, "जिसम तो इसका जल रहा है।" उसने कहा और फिर एक आती हुई मोटर से बचाने के लिए अपने बीवी-बच्चों को एक तरफ़ करके वह उन्हें किनारे पर लगे हुए शीशम के साए में ले चला।

"अरे मौलू, तुम किधर?" आश्चर्य से वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक व्यक्ति ने पूछा।

"अरे भाई, हसन के लड़के की शादी में लाहौर जा रहा था," मौलू ने निराशा-भरी आवाज़ में कहना शुरू किया, "रास्ते में लड़कों को बुखार ने आ दबाया।"

"कहां जा रहे हो वहां लाहौर में?"

"मुज़ंग में हसन रहता है, वहीं जाना होगा। न हुआ भाई तांगा कर लेंगे, तीन-चार आनों की बात है, सो भाई दे देंगे!"

"तीन-चार आने!" वह हंसा, "तुम लाहौर कभी गए नहीं, एक रुपये से कम में वहां तांगा न जाएगा।"

मौलू ने बड़ी निराश दृष्टि से अपनी पत्नी की ओर देखा, जो शायद कह रही थी कि एक रुपये की मिठाई हसन के बच्चों के लिए भी लेनी है और फिर वापस आने के लिए भी पैसे चाहिए और बीवां की निगाहें शायद

कह रही थीं कि मुए तांगे वाले ने योंही हमारे बारह आने ठग लिए।

"तुम किधर आए थे नवाब ?" मौलू ने पूछा।

"भीलो शाह की बोरियां स्टेशन पर छोड़कर आ रहा हूं !"

"तो अब वापस जा रहे हो ?"

"चला ही जा रहा हूं, योंही ज़रा दम लेने के लिए रुक गया था !"

तब फिर मौलू ने बीवां की ओर और बीवां ने मौलू की ओर देखा और मौलू ने कहा, "क्या कहूं यार, बच्चों को बुख़ार ने आ दबाया है, हस्सू ने तो बहुतेरा लिखा था कि बीवी-बच्चों के साथ आना, लेकिन यहां तक आते-आते बच्चे बीमार हो गए, लहरां का पांव ज़ख्मी हो गया है और फ़ज्जे और चिराग़ का पिण्डा गर्म तवा बना हुआ है, सोचता हूं, वहां कहीं तकलीफ़ बढ़ न जाए। शादी का मामला है, खाने-पीने में परहेज़ रहता नहीं, और फिर वहां वह बात थोड़े ही है जो अपने घर में है। डाक्टर..."

"ये डाक्टर साले तो अच्छे-भले को बीमार कर देते है।" नवाब ने कहा।

"अरे बाबा, उन तक हमारी पहुंच कहां ?" और फिर एक बार पत्नी की ओर देखकर उसने नवाब से कहा, "तुम एक मेहरबानी करो नवाब, इन सबको ले जाओ। मुझे तो जाना ही होगा, कल बरात चढ़ेगी !" और फिर उसके उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना उसने बीवी-बच्चों को बैलगाड़ी पर चढ़ने का आदेश दिया।

नवाब गाड़ी पर आ बैठा।

"रास्ते में भीलोवाल के निरंजनदास हकीम से कुछ दारू लेती जाना," उसने गाड़ी के पीछे चलते हुए अपनी पत्नी से कहा।

तभी दूर सड़क पर अमृतसर की ओर से एक लारी आती हुई दिखाई दी।

मौलू ने जल्दी-जल्दी अपने बच्चों का प्यार लिया।

फ़ज्जे के जलते हुए मस्तक को चूमा, "हम तुम्हारे लिए बूट लाएंगे।"

लहरां के सिर पर हाथ फेरा, "तुम्हारे लिए जूता लाएंगे !"

रहमां को डांटा कि बच्चों का खयाल रखना और मां से लड़ना नहीं।

फिर वह गठरी उठाए भागता हुआ-सा सड़क पर आ खड़ा हुआ और उसने आती हुई लारी को रोकने के लिए हाथ बढ़ा दिया।

१९४१

मनुष्य—यह !

अपनी पत्नी की मृत्यु के चौथे रोज़ जब पं० परसराम श्मशान से फूल चुनने के बाद मुहल्ले की धर्मशाला में आकर बैठे तो उस समय उनके मन में असीम वैराग्य उत्पन्न हो उठा। उस समय ही क्यों, पत्नी उनकी जिस दम बीमार पड़ी और जिस दम उन्हें मालूम हुआ कि डाक्टरों,हकीमों और वैद्यों की दवाएं और उनकी मां के देवी-देवता, पीर-फ़कीर, सब उसे काली मौत के मुंह से न बचा सकेंगे, उसी समय से एक अज्ञात वैराग्य उनकी नस-नस में समाया जाता था।

प्रात: का अंधेरा अभी काफी गहरा था। लोग चुपचाप आकर दरी पर बैठ गए थे। धर्मशाला के मन्दिर का पुजारी भी मन्दिर के चबूतरे को धोने का काम छोड़कर शोक प्रकट करने के निमित्त चुपचाप आ बैठा था। परे दरवाज़े पर लालटेन, जैसे अपनी अन्तिम सांसों को भरसक रोककर, प्रकाश देने का प्रयास कर रही थी। तेल शायद समाप्त हो चुका था और उसका मद्धिम प्रकाश, अन्धकार की गहराई को और भी व्यग्रता से प्रकट कर रहा था।

पं० परसराम ने दीर्घ निश्वास छोड़ा। उन्होंने चाहा कि अंधेरा उन्हें भी चुपचाप लील जाए, उसी तरह निगल जाए, जैसे मृत्यु का अन्धकार उनकी पत्नी को निगल गया था। गर्म कम्बल उनके कन्धों से खिसककर धरती पर आ रहा था। कमीज़ का गरेबां खुला था; शरीर में तीर की भांति चुभ जाने वाले शीत का उन्हें लेश भी ज्ञान न था। उनकी तो मानो

चेतना ही सन्न हो गई थी।

नाई ने कहा, "यजमान, उठकर हाथ दे दो !"[1]

परसराम अन्यमनस्क भाव से कम्बल को संभालते हुए उठे। खोये-खोये-से धर्मशाला के दरवाज़े पर आ खड़े हुए और उपस्थित लोगों की ओर उन्होंने हाथ बढ़ा दिया। तब सबको सुनाई देने वाली एक लम्बी सांस के साथ, मानो उमर-भर के अनुभवों से दबी हुई कमर को लेकर लाला रामलुभाया उठे और कुछ समीप आकर उन्होंने कहा, "देखो बच्चा, अब ग़म को छोड़कर आगे की चिन्ता करो, यह संसार तो ऐसे ही चलता है।"

इस 'आगे की चिन्ता' में जो संकेत निहित था, उसे समझकर परसराम का हृदय ग्लानि से भर आया और उन्होंने उपेक्षा से मुंह फेर लिया।

लाला रामलुभाया फिर लम्बी सांस लेकर चल पड़े और उनके बाद दूसरे लोग एक-एक करके शोक प्रकट करते हुए उनके पास से गुज़रने लगे :

"भाई मौत के आगे क्या चारा है, अपने मन को शान्ति दो और अपना घर-दर बसाओ।"

"संसार में आना-जाना तो लगा ही है पण्डित जी, इस तरह दुःख करके आदमी कहां तक जी सकता है ?"

"मां के बुढ़ापे का ख़याल करो भाई, और कोई ऐसी सबील करो जिससे उसे भी सहारा मिले।"

"पण्डित जी, आपकी अभी उमर ही क्या है, इस उमर में तो हमें खाने-पहनने तक का भी ज्ञान न हुआ था।"

जब शोकपूर्ण शब्दों के साथ प्रायः प्रत्येक पड़ोसी के कुछ ऐसे ही वाक्य उनके कान में पड़े तो पं० परसराम का विषाद और भी गहरा हो गया। और जब सबके चले जाने के बाद, वे नाई के साथ मिलकर दरी उठाने लगे और नाई ने एक खिसियानी-सी मुस्कराहट के साथ कहा, "यजमान, वे तो देवी थीं, दया-धर्म का जैसा उन्हें ज्ञान था, वैसा किसे होगा !"

---

१. चौथे के रोज जब श्मशान से अस्थियां चुनने के बाद लोग आकर बैठते हैं तो फिर उन्हें अपने घर जाने की आज्ञा देने को हाथ देना कहते हैं।

और फिर दरी लपेटते-लपेटते यह देखकर कि उसकी बात से यजमान के चेहरे पर एक बादल-सा होकर गुज़र गया है, नाई ने कहा, "उन जैसी देवी तो यजमान, अब कहां मिलेंगी, पर यदि आप 'हां' करें तो सुन्दर, शिक्षित, घर के काम-काज में चतुर···" तो परसराम रूखी हंसी हंसे और 'हां, हां, क्यों नहीं' कहते कम्बल को लपेट, अंगोछा कन्धे पर रख, जैसे अंगारों पर से गुज़रते हुए, घर को चल पड़े।

दोपहर को ऊपर छत पर, धूप में आराम-कुर्सी डाले, वे चुपचाप पड़े थे और सुबह की बातें एक-एक करके उनके कानों में गूंज रही थीं—'आगे की चिन्ता करो'···'घर-दर बसाओ'···'मां के बुढ़ापे को सहारा मिले, ऐसी सबील करो'···'अभी आपकी उमर ही क्या है?'—और सोच रहे थे कि वे लोग कैसे हृदय-हीन और निर्मम हैं? कैसे वे किसीकी अस्थियों पर बैठकर विवाह की बातें कर सकते हैं? यह संसार कितना स्वार्थी है? हृदय नाम की वस्तु इसके यहां कितने कम परिमाण में मौजूद है?··· तभी उन्होंने सुना, सीढ़ियों पर उनकी मां, इस अपने बुढ़ापे को, इन न खत्म होनेवाली निगोड़ी सीढ़ियों को कोसती, चली आ रही है।

मां जब पास आकर बैठ गई और सांस उसने ठीक कर ली और बीमारी के दिनों में परसराम ने बहू की जो सेवा की और जिस तरह अस्पताल में उसे रखा और जिस तरह पैसा पानी की तरह बहाया, उन सब बातों का ज़िक्र करके, जब अन्त में दो आंसू भी बहा लिए तो कहने लगी कि बेटा, जो बना है, अवश्य टूटेगा, इस जग में और किस चीज़ को स्थायित्व है कि मनुष्य ही अमर रहे। यदि आदमी इस तरह चुप बैठ जाए तो फिर संसार के काम कैसे चलें। और फिर एक लम्बी सांस लेकर उसने गली बालमाता वाले पं० दीनदयाल की चाची का ज़िक्र छेड़ा कि बेचारी बड़ी भली है, जब से पति की मृत्यु हुई है, उसने भूलकर भी उजला कपड़ा नहीं पहना। अपने मन को उसने घर के काय-काज और साधु-सन्तों की संगति में लगा दिया है और धर्म-कर्म की तो मानो वह मूर्ति है। और फिर बोली कि उसका भतीजा दीनदयाल तो बड़ा ही भलामानुस है। बिजली की कम्पनी में हेड-क्लर्क है। दो सौ वेतन पाता है। अपनी चाची को वह मां

की तरह मानता है। उस बेचारे के कोई सन्तान नहीं। ले-देकर एक ही लड़की भागवन्ती है जो अपने पिता की धर्मपरायणा चाची के चरणों में बैठकर घर के काम-काज और धर्म-कर्म के कामों में दक्ष हो गई है।

तभी पं० परसराम को आकाश में कहीं से एक कटी हुई पतंग, असहाय सी, बेबस-सी, इधर-उधर डोलती, क्षण-प्रतिक्षण नीचे गिरती दिखाई दी। जिधर को वह जा रही थी, उधर ही उनकी दृष्टि भी जा रही थी और उनकी मां उस समय यह जानकर कि उनका लड़का दत्तचित्त होकर सुन रहा है, सोल्लास भागवन्ती के रूप-गुण का बखान कर रही थी। सहसा एक झपकी खाकर पतंग दूर किसी मकान के आंगन में जा गिरी।—पं० परसराम ने लम्बी सांस ली। मां तब कह रही थी कि बच्चा दीनदयाल की चाची ने तो कहा था कि यदि परसराम माने तो भागवन्ती···

तब पं० परसराम ने सहसा उन आंखों से मां की ओर देखा, जिनमें सफ़ेदी होने पर भी आग बरस रही थी और एक बार उनके मुंह से निकला —'मां!' उनकी कल्पना के सम्मुख तब उनकी सास का उदास और विवर्ण मुख घूम गया। कितनी मन्नतों, कितनी प्रार्थनाओं के बाद, एक-एक करके सात बच्चों को मृत्यु की गोद में सुलाने के बाद, उसने यह लड़की पाई थी। उसे अपने पति के साथ सुखी देखकर ही वह अपने सारे अभाव को, अपने बच्चों के निधन को, अपने पति की मृत्यु को, सब दुःख को भुलाए हुए थी। अपनी लड़की और दामाद को देखकर ही वह जीती थी, पर आज वह भी न रही। अपनी सास के दुख का ख़याल करके परसराम सिहर उठे। उन्होंने निश्चय कर लिया कि धर्म का जो नाता एक बार स्थापित हो गया, उसे वे कदापि न टूटने देंगे। उसे सान्त्वना देंगे; उसे तसल्ली देंगे; कहेंगे, 'क्या हुआ यदि तुम्हारी लड़की मर गई, तुम्हारा लड़का तो है। आख़िर दामाद और लड़के में अन्तर ही क्या है?' वे उसके चरणों पर सिर रख देंगे और कहेंगे कि मां, तुम्हारा यह लड़का तुम्हारी हर सेवा के लिए प्रस्तुत है।

यह सोच वे उठे, ससुराल उनकी नगर ही में थी, चुपचाप वे उधर को चल पड़े।

ड्योढ़ी में स्त्रियों के घेरे में बैठी उनकी सास अपनी जवान लड़की की मृत्यु पर क्रन्दन कर रही थी। उसे तो आयु-भर रोना था, पर समाज का भी यह अनुरोध है कि ग्यारह दिन तक उसे दिखाकर रोया जाए। उसके करुण क्रन्दन को सुनकर परसराम का दिल भर आया। चुपचाप वे ड्योढ़ी के पास जाकर खड़े हो गए। रोना कुछ क्षण के लिए बन्द हो गया। अन्दर जाने के लिए उन्हें मार्ग दे दिया गया। तभी उन्हें पहचानकर एक बुढ़िया ने गहरा निश्वास छोड़कर कहा, "बेचारे का इस घर से इतना ही नाता था, अब सूरत तक को भी तरस जाएंगे।"

दूसरी ने कहा, "भला यह कोई बात है, विमला जो है।" और तब परसराम की सास से उसने कहा, "अपना तो जो जाना था चला गया, बित्तो की मां, पर घर की आग दूसरे क्यों सेंकें ?"

बित्तो की मां ने केवल एक दीर्घ निश्वास छोड़ा।

परसराम के कानों में भी इन बातों की भनक पड़ी। उन्हें उन दोनों बुढ़ियों पर दया हो आई। उनके दिल पर जो गुज़र रही थी, उनकी सास के हृदय पर जो बीत रही थी, उसे वे शुष्क, हृदयहीन बूढ़ियां क्या जानें ?

जब स्त्रियों के चले जाने के बाद सास उनके पास आई तो अनायास ही उसकी आंखों में आंसू आ गए, पर शीघ्र ही व्यस्त-सी होते हुए बोली, "सुबह का काहे को कुछ खाया होगा ?" और फिर उसने अपने भतीजे की बहू को बुलाकर कहा कि जल्दी से कुछ बना दो। परसराम ने बहुतेरा कहा कि मुझे भूख नहीं, मैं कुछ न खा सकूंगा, पर जब सास ने एक लम्बी सांस भरी और दुःखी होकर कहा—"बच्चा, अब तू कब-कब मेरे घर खाएगा—" तो परसराम चुप हो गए, खाना बना तो भूख न होने पर भी वे चुपचाप खाने लगे। सास पास आ बैठी। तब अचानक ही उसकी आंखें भर आईं। कण्ठ अवरुद्ध हो गया। घुटे-घुटे स्वर में बोली, "इतना ही सम्बन्ध था भाग्य में, मैं तो तुम्हें पाकर निश्चिन्त हो गई थी, पर जिस विधाता ने अपने लड़के ही छीन लिए, वह दूसरे···"

परसराम ने विनीत कण्ठ से कहा, "तुम क्या बात करती हो मां। यह नाता इतना साधारण नहीं, इतना कच्चा नहीं कि मृत्यु सूत के तागे की भांति इसे तोड़ दे।"

"दुनिया में यह होता ही आया है बच्चा !"—सास ने कहा।

"दुनिया, दुनिया, मुझे तुमने दुनिया जैसा देखा है !"

सास ने कहा, "बेटा, पराई लड़कियां तो आकर भाई-भाई में विछोह डाल देती हैं, फिर मेरा तो नाता अब कल की बात हो गई।"

"पराई लड़की···"

"हां, अन्त को पराई लड़की तो आएगी ही। अभी तुम्हारी उमर ही क्या है बेटा !"—और फिर एक दीर्घ निश्वास छोड़कर, दबे स्वर में सास ने कहा, "लोग कहते हैं कि घर की आग घर ही में रहे। विमला है—मेरे जेठ की लड़की, तुमने उसे देखा ही होगा, छोटी-सी ही थी जब अपने बाप के पास चली गई थी, पर अब तो बेटा, वह ब्याहने योग्य है, मेरे यदि कोई दूसरी लड़की होती तो क्या मैं तुम्हें जाने देती, पर अब यहीं···"

परसराम ने कहा, "तुम कहती क्या हो मां ?"

"सोचती हूं कि यह रिश्ता हो जाए तो मेरा भी आना-जाना खुला रहे, नहीं-तो पराई लड़की कब···"

परसराम को गुस्सा आ गया। क्रोध मे बोले, "मां ने यह बात कही, चाची ने यह बात कही, पास-पड़ोस ने यह बात कही, कई आंख के अन्धे सगाइयां लेकर भी आए, लेकिन मैं चुप रहा। किन्तु तुम—उसकी, मरने वाली की मां होकर, यही बात कहोगी और वह भी उसकी मृत्यु के चौथे दिन ही !—इस बात की मैंने स्वप्न में भी कल्पना न की थी।"

क्रोध और भावावेश से परसराम का गला रुंध गया, तभी किसीने धीरे से कहा, "नमस्कार, जीजा जी !"

परसराम ने सिर उठाकर देखा। अत्यन्त सुन्दर, पर उदास, बड़ी-बड़ी आंखें लिए, लज्जा के भार से जैसे सिमटी, विमला उनके सामने आकर बैठ गई है।

क्रोध के आवेग में परसराम कुछ और भी कहने वाले थे कि रुक गए और हैरान-से विमला की ओर देखने लगे कि यह वही विमला है, जिसे उन्होंने आठ वर्ष पहले अपने विवाह के दिनों में फटीपुस्तकें और कटे बालों को लिए स्कूल जाते देखा था।

"पहचाना नहीं इसे ?"—सास ने दीर्घ निश्वास भरकर कहा,

"विमला है, तुम्हारी साली !"

परसराम ने धीरे से कहा, "पहचानता हूं, अब तो यह सयानी हो गई है।"

और विमला का मुख लाल-लाल हो गया।

सांझ पड़े जब परसराम लौटे तो उनका हृदय उदास न था, कुछ प्रफुल्लित ही था और रह-रहकर उनकी आंखों के सामने कान्तकामिनी विमला की सूरत घूम-घूम जाती थी।

"छिः-छिः !" वे अपने-आपपर क्रुद्ध होते चले जा रहे थे। पर जितना ही वे क्रुद्ध होते, जितना ही उस चित्र को मस्तिष्क से हटाने का प्रयास करते, उतना ही वह और भी गहरा होकर अंकित होता जाता और अनजाने ही वे विमला के गुण-दोषों का विवेचन करने लगते।

वहीं बैठे-बैठे उन्होंने पूछा था, "कहो विमला, क्या करती रहीं वहां ? कुछ पढ़ीं भी या योंही वक्त गंवाया कीं ?"

तब विमला ने कहा था, "आठ जमातें पढ़ी हूं।" और फिर अपनी रौ में कह चली थी, "वहां से बहुत कुछ सीखा है जीजा जी, मैं चादरों में ऐसे अच्छे फूल निकालती हूं कि इधर कौन निकालेगा। दुसूती का काम नफ़ीस से नफ़ीस सीख गई हूं। इतने क़िस्म के स्वेटर बुन लेती हूं कि गिना नहीं सकती। फिर धोतियों के किनारों से ट्रंकों के गिलाफ़ बना लेती हूं। फटे कपटों के तागों से आसन बुन लेती हूं और कसीदा···"

और परसराम सोचते—ऐसी ही पत्नी तो मैं चाहता हूं। और तभी अपनी मृत पत्नी के अनेकों दोष उनकी आंखों के सामने फिर जाते—वह कहां इतनी चुस्त थी, अनपढ़ और अकर्मण्य ! उसे कहां यह सब करना आता था ? और तभी वे अपने-आपको कोसते। 'छिः-छिः ! यह क्या उचित है, बित्तो से विमला का क्या मुक़ाबिला ? उस जैसा सरल, अबाध प्रेम उन्हें कौन दे सकता है ? लेकिन विमला···"

उनके वहीं बैठे-बैठे विमला की बड़ी बहन आ गई थी और आंखों में आंसू भरकर उसने कहा, "जीजा जी, बित्तो को कहां छोड़ आए !" और वह ऊंचे-ऊंचे रो उठी थी।

उसका यह क्रन्दन उन्हें बहुत बुरा लगा था। विमला से बातें करते-करते वे एक और ही दुनिया में खो गए थे और विमला की बड़ी बहन की वह संवेदना उन्हें रुचिकर प्रतीत न हुई थी। उस समय अपने घर को जाते-जाते अपने इसी व्यवहार के अनौचित्य पर वे खीज उठे थे। क्या उनके लिए ऐसा करना उचित था ? क्या उन्हें इस तरह खो जाना चाहिए था ? अपनी प्रिय पत्नी की मृत्यु के चौथे दिन ही ! छिः-छिः ! !

अपने-आपसे इसी तरह लड़ते-झगड़ते वे चले जा रहे थे कि मार्ग में उन्हें उनका मित्र रूप मिल गया। रूप—वह सदा खुश, सदा प्रसन्न रहने वाला कुंवारा !

"तुम्हारी पत्नी मर गई।" रूप ने ज़रा गम्भीरहोकर कहा, "मैंने कल ही सुना।" और फिर एक सांस में कह उठा, "देखो, अब जल्दी विवाह के फन्दे में न फंसना, कुछ देर आराम करना !"

पं० परसराम को उसका यह कथन अच्छा न लगा। विमला का चित्र फिर विद्युत्-सा उनकी आंखों के सम्मुख घूम गया। दीर्घ निश्वास लेकर उन्होंने कहा, "नहीं, अब क्या शादी करूंगा !"

रूप ने कहा, "हां—अब इस जंजाल में हरगिज़ न फंसना और फिर तुम तो इस जीवन का आनन्द भी ले चुके हो।"

पं० परसराम के यह दूसरा घाव लगा, पर मन के भावों को मन ही में दबाकरकुछ दबे-दबेस्वरमें उन्होंने कहा, "नहीं, अब शादी क्या करूंगा। मेरी सास मेरी साली के लिए कह रही है, उसके कोई लड़की भी नहीं, चाहती है कि उधर नाता कर लूं तो उसका आना-जाना भी बना रहे।" और फिर सहसा जोश से कह उटे, "पर मैं तो शादी करने का ख़याल भी नहीं रखता, बित्तो की मृत्यु के बाद···"

"हां-हां, कहीं भी न फंसना, बिलकुल न फंसना। आकाश में विचरने वाले पक्षी की भांति आज़ाद, स्वतन्त्र !"—और रूप यह कहता कहता चला गया।

पं० परसराम परेशान-से कुछ क्षण वहीं खड़े रहे। एक तीव्र अट्टहास की भांति रूप के वाक्य उनके कानों में गूंजने लगे।

रात को खाना खाते समय मां ने गली बाल मातावाली पं० दीनदयाल

की चची की बात छेड़ी तो वे चुप सुनते रहे। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे रूप की बातों से उनके हृदय पर जो घाव लगे थे, उनपर मां की बातें ठण्डे लेप का काम दे रही हैं।

सुबह उठे तो पं० परसराम का सिर भारी था। रात वे बहुत देर तक सो न सके थे। एक द्वन्द्व-सा सारी रात उनके मन में छिड़ा रहा और प्रातः उठने के साथ ही जैसे ससुराल जाने की एक प्रबल आकांक्षा उनमें जाग उठी थी। विमला की वह सरल, सुन्दर मूर्ति सारी रात उनकी आंखों में घूमती रही थी। शौचादि से निवृत्त हो, नहा-धो, जल्दी-जल्दी खाना खा, कपड़े पहन, वे तैयार हो गए। तभी दरवाज़े के ऊपर टंगे हुए अपनी स्वर्गीय पत्नी के चित्र पर उनकी नज़र गई। वे खड़े के खड़े रह गए। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे चोरी करने को जाते समय उनका पांव किसीने पीछे से पकड़ लिया है। अपना यह कृत्य भयावह रूप धारण करके उनके सामने आ गया। कोट उतारकर खूंटी पर टांगते हुए वे कुर्सी पर बैठ गए और मन ही मन इस कृत्य के लिए उन्होंने अपनी पत्नी के उस चित्र के आगे हाथ जोड़कर क्षमा मांगी।

इसके बाद वे कई दिन तक अपने कमरे से बाहर न निकले। द्वन्द्व उनके मन में शान्त हो गया हो, यह बात न थी, पर उन्होंने निश्चय कर लिया था कि वे उसे शान्त कर देंगे।

इन सात दिनों में कई अच्छे-अच्छे घरों से पैग़ाम भी आए, पर परसराम अपने कमरे से बाहर ही नहीं निकले। मां के पास भी वे नहीं बैठे कि कहीं वह गली बालमाता वाले पं० दीनदयाल की चची और उनकी भतीजी का ज़िक्र न ले बैठे।

क्रिया-कर्म के दिन जब उनकी सास और उनकी बड़ी साली शोक प्रकट करने के निमित्त आईं तो विमला भी उनके साथ थी। तब भी पं० परसराम सामने न आए। क्रिया-कर्म से निबटकर ऊपर अपने कमरे में जा बैठे। जा तो बैठे, पर जैसे वहां से उठकर बाहर जाने के लिए उनका मन व्यग्र हो उठा। विमला आई हुई है, यह बात वे न भूल सके। रह-रहकर उनका मन उठकर खिड़की में जा बैठने के लिए, नज़र-भर विमला को देख लेने के लिए व्याकुल हो उठता। अपने मन को रोकने का उन्होंने भरसक

प्रयत्न किया। उनकी पत्नी का चित्र अब भी वहीं लगा था। उसे देख, अपने-आपको उन्होंने कोसा भी, पर इन सब बातों के बावजूद जब उन्होंने सुना कि वे सब जा रही हैं तो वे खिड़की में जा खड़े हुए। तभी जैसे विमला ने उधर देखा और निमिष-मात्र के लिए उनका हृदय धक्-धक् करने लगा।

जब वे दूर निकल गईं तो उन्होंने खिड़की लगा ली और जाकर कुर्सी पर बैठ गए। तब फिर प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। पर इस बार वह अधिक देर तक न टिक सकी। आराम-कुर्सी पर लेट, आंखें बन्द करके वे कल्पना की सुन्दर, सुरम्य वाटिकाओं की सैर में निमग्न हो गए, जिनमें विमला की स्मिति की स्निग्ध धूप खिलती थी, उसकी सुगन्धित केशराशि के परस से भारी होकर हवा चलती थी और उसके मादक स्वर-संगीत को सुनकर सरिता कल-कल बहती थी—'विमला···विमला'···उन्होंने गुनगुनाया··· वे उससे ही विवाह करेंगे।

तभी किसीने कहा—'वित्तो!' और घबराकर उन्होंने आंखें खोल दीं। सामने दीवार पर उनकी स्वर्गीय पत्नी का चित्र टंगा था। उन्हें मालूम हुआ जैसे यह आवाज़ वहीं से आई है। दिल धक्-धक् करने लगा। स्तब्ध बैठे कुछ क्षण वे उस चित्र को देखते रहे। फिर अचानक जैसे कोई दृढ़ निश्चय करके उठे। दरवाज़ा उन्होंने धीरे से बन्द कर दिया। चिटकनी लगा दी। तब मेज़ को घसीटकर वे दरवाज़े के पास ले आए, उसपर कुर्सी को रखा, चढ़े और चित्र को उतार लिया।

कमरे में अंधेरा छा गया था। रोशनदान के शीशों से आने वाले धीमे प्रकाश में उनकी नज़र दाईं ओर के क़दादम शीशे में गई और उस वक्त उन्हें अपना प्रतिबिम्ब एक प्रेतात्मा की भांति दिखाई दिया। तभी बढ़कर उन्होंने एक समाचारपत्र उठाया, तस्वीर को उसमें लपेटा और अन्दर कोठरी में जाकर चार ट्रंकों को उठाकर नीचे के बड़े ट्रंक में रख आए। मेज़ को उसकी जगह घसीट, कुर्सी को उसके ऊपर से उठा, उन्होंने दरवाज़ा खोलकर बिजली का बटन दबा दिया। तब उन्होंने समझ लिया, उस आवाज़ का उन्होंने गला घोंट दिया है।

रात को खाना खाते समय उन्होंने मां से स्वयं ही विवाह की बात

चला दी।

मां का चेहरा खिल गया। गली बालमाता वाले पं० दीनदयाल की चची की बात उन्होंने फिर चलाई। कहने लगीं, "बेटा, वे तो आज भी आई थीं। लड़की भागवन्ती तो ऐसे सलीके वाली, चतुर और बुद्धिमती है कि क्या कहूं? न हो तू जाकर एक नज़र देख लेना।"

तब परसराम की आंखों में विमला की मूर्ति बैठी थी। सुन्दर, चंचल आंखें, लज्जा के आवरण में लिपटी रहने पर भी, उन्हें निमन्त्रण दे रही थीं। और मां कह रही थीं:

'बेटा, कुंवारे के तो अढ़ाई पट होते हैं, रिवाज ही ऐसा है, लोग एक-दो महीने तक तो आते हैं, फिर कोई बात भी नहीं करता। मैं यह नहीं कहती कि तू कुंवारा रह जाएगा. पर अच्छे घर-दर वाले तो पूछ-पूछकर हार जाएंगे।"

अपनी कल्पना में निमग्न परसराम सुनते रहे, जैसे विमला उन्हें बुला रही है, उनसे कह रही है—"जीजा जी, तुम्हारे लिए ही तो मैं इतनी दूर से आई हूं, इतनी दूर से—गया से···"

और मां कह रही थी, "तुम हां तो करो बेटा, मैं कल ही उसे बुलवा लूं।"

परसराम ने जैसे अपने-आप 'हूं' कहा। मां ने समझा, उसके पुत्र को समझ आ गई है और मन उसका फूल उठा। और पुत्र ने समझा कि गया से चलकर आने वाली उस कान्तकामिनी विमला ने उसे बुलाया है और वह उससे मिलने ज़रूर जाएगा। लम्बी सांस लेकर वे उठे।

दूसरे दिन जब उनकी मां घर के काम-काज से निबटकर गली बाल-माता की ओर अपनी सहेली से मिलने जा रही थी, परसराम एक अत्यन्त सुन्दर, पर सूफ़ियाना सूट पहनकर अपने ससुराल की ओर अग्रसर थे।

दिसम्बर का महीना था और आकाश खिला हुआ था। सूरज जो सुबह कंजूस की भांति अपने धन को आंचल में छिपाए था, अब दोनों हाथों से उसे लुटा रहा था। बड़े दिनों की छुट्टियों में लाहौर में एक विशेष चहल-पहल थी। दु:ख को जैसे दबाकर, व्यथा को जैसे भुलाकर और अपनी

विपन्नता को जैसे छिपाकर लोग घूम रहे थे। परसराम को सब ओर एक नई स्फूर्ति, एक नया जीवन दिखाई दे रहा था। मन उनका जैसे निर्मल आकाश की गहराइयों में उड़ने वाली चीलों की भांति पंख फैलाकर उड़ने को व्यग्र हो रहा था और उनका मस्तिष्क सुख के एक नये साम्राज्य का सृजन कर रहा था—जिसके राजा वे थे और रानी थी अनिन्द्य सुन्दरी विमला···तभी उनकी ससुराल आ गई।

सास उनकी आंगन मेंबैठी सूत अटेर रही थी। वे चुपचाप उसके पास जा बैठे। एक बार उसने अन्यमनस्कता से पूछा, "कहो अच्छे हो!" और जब उत्तर में उन्होंने कह दिया, "आपकी कृपा है!" तो वह फिर चुपचाप सूत अटेरने लगी।

पांच मिनट बीते, दस मिनट बीते, पन्द्रह मिनट बीते, परसराम के लिए यह वातावरण असह्य हो उठा। खिसियाने-से स्वर में उन्होंने पूछा, "तबीयत तो ठीक है?"

उत्तर में सास ने केवल एक दीर्घ निश्वास छोड़ा।

पं० परसराम का सारा नशा हिरन हो गया। वे बैठे क्या करें? सास के मुंह की ओर तकते रहें, वे कुछ भी तय न कर सके। हारकर उन्होंने पूछा, "वे सब लोग किधर हैं?"

"क्रिया के बाद अपने घर चले गए।"

कृत्रिम हैरानी के साथ परसराम ने पूछा, "गया?"

"नहीं, अभी गया कैसे जाएंगे, विमला का विवाह करके ही वापस लौटेंगे।"

"तो कहां सगाई की?" परसराम ने जैसे बेपरवाही के साथ पूछा।

"यहीं शहर में की है। आज ही शगुन देकर आए हैं, तुम तो माने ही नहीं और उनको वापस भी जाना है।"

शहीदी भाव से वे बोले, "मैं कैसे मानता, सावित्री की मृत्यु के बाद इतनी जल्दी···"

सास बोली, "मुझसे तो उन्होंने अनुरोध किया था, पर मैंने कह दिया भाई उसके दिल पर बड़ी चोट लगी है, वह न मानेगा इतनी जल्दी···"

परसराम ने दिल में जैसे रोते हुए कहा, "अच्छा किया, अच्छा,

किया !" और प्रणाम करके सास से छुट्टी ली और उठ आए ।

घर पहुंचकर वे खट-खट सीढ़ियां चढ़ गए। मां ऊपर आंगन में बैठी मटरों से दाने निकाल रही थी। उन्हें आते देखकर उसने शिकायत-भरे स्वर में कहा, "बेटा, तुमने बड़ी देर कर दी। गली बालमाता वाले पं० दीनदयाल और उनकी चची···"

गरजकर पं० परसराम ने कहा, "तुम पागल हो गई हो क्या, यदि वह तुम्हारी लड़की होती तो तुम्हें अपने दामाद का इतनी जल्दी शादी कर लेना भाता क्या···?"

और धम-धम पैर रखते वे अन्दर अपने कमरे में जाकर सूट समेत ही बिस्तर पर लेट गए।

मटर की फली मां के हाथ से गिर गई और चकित-सी, भौंचक्की-सी वह उसी शून्य में देखती रह गई।

१६३७

डाची

काट[1] 'पो सिकन्दर' के मुसलमान जाट बाक़र को अपने माल की ओर लालच-भरी निगाहों से तकते देखकर चौधरी नन्दू वृक्ष की छांह में बैठे-बैठे अपनी ऊंची घरघराती आवाज़ में ललकार उठा, "रे-रे, अठे के करे है ?"[2] और उसकी छः फ़ुट लम्बी सुगठित देह, जो वृक्ष के तने के साथ आराम कर रही थी, तन गई और बटन टूटे होने के कारण, मोटी खादी के कुर्ते से उसका विशाल वक्षस्थल और उसकी बलिष्ठ भुजाएं दृष्टिगोचर हो उठीं।

बाक़र तनिक समीप आ गया। गर्द से भरी हुई छोटी, नुकीली दाढ़ी और शरई मूंछों के ऊपर गढ़ों में धंसी हुई दो आंखों में निमिष-मात्र के लिए चमक पैदा हुई और ज़रा मुस्कराकर उसने कहा, "डाची[3] देख रहा था चौधरी, कैसी खूबसूरत और जवान है! देखकर आंखों की भूख मिटती है।"

अपने माल की प्रशंसा सुनकर चौधरी नन्दू का तनाव कुछ कम हुआ; प्रसन्न होकर बोला, "किसी सांड ?"[4]

"वह, परली तरफ़ से चौथी।" बाक़र ने संकेत करते हुए कहा।

---

१. दस-बीस सिरकियों के खेमों का छोटा-सा गांव

२. अरे तू यहां क्या कर रहा है ?

३. डाची = सांडनी

४. कौन-सी डाची ?

ओकांह[1] के एक घने पेड़ की छाया में आठ-दस ऊंट बंधे थे, उन्हींमें वह जवान सांडनी अपनी लम्बी, सुन्दर और सुडौल गर्दन बढ़ाए घने पत्तों में मुंह मार रही थी। माल-मण्डी में, दूर जहां तक नज़र जाती थी, बड़े-बड़े ऊंचे ऊंटों, सुन्दर सांडनियों, काली-मोटी बेडौल भैंसों, सुन्दर नागौरी सींगों वाले बैलों और गायों के सिवा कुछ दिखाई न देता था। गधे भी थे, पर न होने के बराबर। अधिकांश तो ऊंट ही थे। बहावल नगर के मरुस्थल में होने वाली माल-मण्डी में उनका आधिक्य था भी स्वाभाविक। ऊंट रेगिस्तान का जानवर है। इस रेतीले इलाक़े में आमदरफ़्त, खेती-बाड़ी और बारबरदारी का काम उसीसे होता है। पुराने समय में जब गाएं दस-दस और बैल पन्द्रह-पन्द्रह रुपये में मिल जाते थे, तब भी अच्छा ऊंट पचास से कम में हाथ न आता था और अब भी, जब इस इलाक़े में नहर आ गई है, पानी की इतनी किल्लत नहीं रही, ऊंट का महत्त्व कम नहीं हुआ, बल्कि बढ़ा ही है। सवारी के ऊंट दो-दो सौ से तीन-तीन सौ तक पा जाते हैं और वाही तथा बारबरदारी के भी अस्सी-सौ से कम में हाथ नहीं आते।

तनिक और आगे बढ़कर बाक़र ने कहा, "सच कहता हूं चौधरी, इस जैसी सुन्दर सांडनी मुझे सारी मण्डी में दिखाई नहीं दी।"

हर्ष से नन्दू का सीना दुगना हो गया, बोला, "आ एक ही के, इह तो सगली फूटरी हैं। हूं तो इन्हें चारा फलूंसी नीरिया करूं।"[2]

धीरे से बाक़र ने पूछा, "बेचोगे इसे?"

नन्दू ने कहा, "इठई बेचने तो लाया हूं।"

"तो फिर बताओ, कितने को दोगे?"

नन्दू ने नख से शिख तक बाक़र पर एक दृष्टि डाली और हंसते हुए बोला, "तन्ने चाही जें, का तेरे धनी वेई मोल लेसी?"[3]

"मुझे चाहिए।" बाक़र ने दृढ़ता से कहा।

---

१. एक वृक्ष-विशेष

२. यह एक ही क्या, यह तो सब ही सुन्दर हैं, मैं इन्हें चारा और फलूंसी (जवारा और मोठ) देता हूं।

३. तुझे चाहिए या तू अपने मालिक के लिए मोल ले रहा है?

नन्दू ने उपेक्षा से सिर हिलाया। इस मज़दूर की यह बिसात कि ऐसी सुन्दर सांडनी मोल ले। बोला, "तूं की लेसी ?"

बाक़र की जेब में पड़े हुए डेढ़ सौ के नोट जैसे बाहर उछल पड़ने के लिए व्यग्र हो उठे। तनिक जोश के साथ उसने कहा, "तुम्हें इससे क्या, कोई ले, तुम्हें तो अपनी क़ीमत से गरज़ है, तुम मोल बताओ ?"

नन्दू ने उसके जीर्ण-शीर्ण कपड़ों, घुटनों से उठे हुए तहमद और जैसे नूह के वक्त से भी पुराने जूते को देखते हुए टालने के विचार से कहा, "जा जा, तू इशी-विशी ले आई, इंगो मोल तो आठ बीसी सूं घाट के नहीं।"[१]

एक निमिष के लिए बाक़र के थके हुए, व्यथित चेहरे पर आह्लाद की रेखा झलक उठी। उसे डर था कि चौधरी कहीं इतना मोल न बता दे, जो उसकी बिसात से ही बाहर हो; पर जब अपनी ज़बान से ही उसने १६०) बताए तो उसकी खुशी का ठिकाना न रहा। १५०) तो उसके पास थे ही। यदि इतने पर भी चौधरी न माना तो दस रुपये वह उधार कर लेगा। भाव-ताव तो उसे करना आता न था। झट से उसने डेढ़ सौ के नोट निकाले और नन्दू के आगे फेंक दिए। बोला, "गिन लो, इनसे अधिक मेरे पास नहीं, अब आगे तुम्हारी मर्ज़ी।"

नन्दू ने अन्यमनस्कता से नोट गिनने आरम्भ कर दिए। पर गिनती खत्म करते ही उसकी आंखें चमक उठीं। उसने तो बाक़र को टालने के लिए ही मूल्य १६०) बता दिया था, नहीं मण्डी में अच्छी से अच्छी डाची डेढ़ सौ में मिल जाती और इसके तो १४०) पाने की भी कल्पना उसने स्वप्न में न की थी। पर शीघ्र ही मन के भावों को छिपाकर और जैसे बाक़र पर एहसान का बोझ लादते हुए नन्दू बोला, "सांड तो मेरी दो सौ की है, पण जा सग्गी मोल मियां तन्ने दस छांडिया।"[२] और यह कहते-कहते उठकर उसने सांडनी की रस्सी बाक़र के हाथ में दे दी।

---

१. जा, जा, तू कोई ऐसी-वैसी सांड ख़रीद ले, इसका मूल्य तो १६०) से कम नहीं।

२. सांडनी तो मेरी २००) की है; पर जा, सारी क़ीमत में से तुम्हें दस रुपये छोड़ दिए।

क्षण-भर के लिए उस कठोर व्यक्ति का जी भर आया। यह सांडनी उसके यहां ही पैदा हुई और पली थी। आज पाल-पोसकर उसे दूसरे के हाथ में सौंपते हुए उसके मन की कुछ ऐसी दशा हुई, जो लड़की को ससुराल भेजते समय पिता की होती है। ज़रा कांपती आवाज़ में, स्वर को तनिक नर्म करते हुए, उसने कहा, "आ सांड सोरी रहेड़ी है, तूं इन्हें रेहड़ में न गेर दई।"[१] ऐसे ही, जैसे ससुर दामाद से कह रहा हो—'मेरी लड़की लाडों-पली है, देखना इसे कष्ट न होने देना।"

आह्लाद के पंख पर उड़ते हुए बाक़र ने कहा, "तुम ज़रा भी चिन्ता न करो, जान देकर पालूंगा।"

नन्दू ने नोट अंटी में संभालते हुए, जैसे सूखे हुए गले को ज़रा तर करने के लिए, घड़े में से मिट्टी का प्याला भरा। मण्डी में चारों ओर धूल उड़ रही थी। शहरों की माल-मण्डियोंमें भी—जहां बीसियों अस्थायी नल लग जाते हैं और सारा-सारा दिन छिड़काव होता रहता है—धूल की कमी नहीं होती, फिर रेगिस्तान की मण्डी पर तो धूल ही का साम्राज्य था। गन्ने वाले की गंडेरियों पर, हलवाई के हलवे और जलेबियों पर और खोंचे वाले के दही-बड़े पर, सब जगह धूल का पूर्णाधिकार था। घड़े का पानी टांचियों द्वारा नहर से लाया गया था, पर यहां आते-आते वह कीचड़ जैसा गंदला हो गया था। नन्दू का खयाल था कि निथरने पर पिएगा, पर गला कुछ सूख रहा था। एक ही घूंट में प्याले को खत्म करके नन्दू ने बाक़र से भी पानी पीने के लिए कहा। बाक़र आया था तो उसे ग़ज़ब की प्यास लगी हुई थी, पर अब उसे पानी पीने की फुर्सत कहां? वह रात होने से पहले-पहले गांव पहुंचना चाहता था। डाची की रस्सी पकड़े हुए वह धूल को चीरता हुआ-सा चल पड़ा।

बाक़र के दिल में बड़ी देर से एक सुन्दर और युवा डाची खरीदने की लालसा थी। जाति से वह कमीन था। उसके पूर्वज कुम्हारों का काम करते थे, किन्तु उसके पिता ने अपना पैतृक काम छोड़कर मज़दूरी करना शुरू

१. यह सांडनी अच्छी तरह रखी गई है, तू इसे योंही मिट्टी में न रोल देना।

कर दिया था। उसके वाद बाक़र भी इसीसे अपना और अपने छोटे-से कुटुम्ब का पेट पालता आ रहा था। वह काम अधिक करता हो, यह बात न थी। काम से उसने सदैव जी चुराया था। चुराता भी क्यों न, जब उसकी पत्नी उससे दुगना काम करके उसके भार को बंटाने और उसे आराम पहुंचाने के लिए मौजूद थी। कुटुम्ब वड़ा न था—एक वह, एक उसकी पत्नी और एक नन्ही-सी बच्ची। फिर किसलिए वह जी हलकान करता ? पर क्रूर और 'वेपीर' विधाता—उसने उसे उस विस्मृति से, सुख की उस नींद से जगाकर अपना उत्तरदायित्व समझने पर वाधित कर दिया। उसे वता दिया कि जीवन में सुख ही नहीं, आराम ही नहीं, दुख भी है, परिश्रम भी है।

पांच वर्ष हुए उसकी वही आराम देने वाली प्यारी पत्नी सुन्दर गुड़िया-सी लड़की को छोड़कर परलोक सिधार गई थी। मरते समय, अपनी सारी करुणा को अपनी फीकी और श्रीहीन आंखों में वटोरकर उसने वाक़र से कहा था, "मेरी रज़िया अव तुम्हारे हवाले है, इसे कष्ट न होने देना !" इसी एक वाक्य ने बाक़र के समस्त जीवन के रुख़ को पलट दिया था। उसकी मृत्यु के बाद ही वह अपनी विधवा बहन को उसके गांव से ले आया था और अपने आलस्य तथा प्रमाद को छोड़कर अपनी मृत पत्नी की अन्तिम अभिलाषा को पूरा करने में संलग्न हो गया था।

वह दिन-रात काम करता था ताकि अपनी मृत पत्नी की उस धरोहर को, अपनी उस नन्ही-सी गुड़िया को, भांति-भांति की चीज़ें लाकर प्रसन्न रख सके। जव भी कभी वह मण्डी से आता तो नन्ही-सी रज़िया उसकी टांगों से लिपट जाती और अपनी बड़ी-बड़ी आंखें उसके गर्द से अटे हुए चेहरे पर जमाकर पूछती, "अब्बा मेरे लिए क्या लाए हो ?" तो वह उसे अपनी गोद में ले लेता और कभी मिठाई और कभी खिलौनों से उसकी झोली भर देता। तब रज़िया उसकी गोदी से उतर जाती और अपनी सहेलियों को अपने खिलौने या मिठाई दिखाने के लिए भाग जाती। यही गुड़िया जब आठ वर्ष की हुई तो एक दिन मचलकर अपने अब्बा से कहने लगी, "अब्बा, हम तो डाची लेंगे; अब्बा हमें डाची ले दो।" भोली-भाली निरीह बालिका ! उसे क्या मालूम कि वह एक विपन्न, साधन-हीन

मज़दूर की बेटी है, जिसके लिए डाची खरीदना तो दूर रहा, डाची की कल्पना करना भी पाप है। रूखी हंसी हंसकर बाक़र ने उसे अपनी गोद में ले लिया और बोला, "रज्जो, तू तो ख़ुद डाची है।" पर रज़िया न मानी। उस दिन मशीर माल अपनी सांडनी पर चढ़कर अपनी छोटी लड़की को अपने आगे बैठाए दो-चार मज़दूर लेने के लिए अपनी इसी काट में आए थे। तभी रज़िया के नन्हे-से मन में डाची पर सवार होने की प्रवल आकांक्षा पैदा हो उठी थी, और उसी दिन से बाक़र की रही-सही अकर्मण्यता भी दूर हो गई थी।

उसने रज़िया को टाल तो दिया था, पर मन ही मन उसने प्रतिज्ञा कर ली थी कि वह अवश्य रज़िया के लिए एक सुन्दर-सी डाची मोल लेगा। उसी इलाक़े में जहां उसकी आय की औसत साल-भर में तीन आने रोज़ाना भी न होती थी, अव आठ-दस आने हो गई। दूर-दूर के गांवों में अव वह मज़दूरी करता। कटाई के दिनों में वह दिन-रात काम करता—फ़सल काटता; दाने निकालता; खलिहानों में अनाज भरता; नीरा डालकर भूसे के कुप वनाता। विजाई के दिनों में हल चलाता; क्यारियां बनाता; विजाई करता। उन दिनों उसे पांच आने से लेकर आठ आने रोज़ाना तक मज़दूरी मिल जाती। जव कोई काम न होता तो प्रातः उठकर, आठ कोस की मंज़िल मारकर मण्डी जा पहुंचता और आठ दस-आने की मज़दूरी करके ही घर लौटता। उन दिनों में वह रोज़ छः आने वचाता आ रहा था। इस नियम में उसने किसी तरह की ढील न होने दी थी। उसे जैसे उन्माद-सा हो गया था। वहन कहती—"वाक़र, अब तो तुम विलकुल ही वदल गए हो, पहले तो तुमने कभी ऐसे जी तोड़कर मेहनत न की थी।"

वाक़र हंसता और कहता—"तुम चाहती हो, मैं आयु-भर निठल्ला रहूं?"

वहन कहती—"निकम्मा बैठने को तो मैं नहीं कहती, पर सेहत गंवाकर रुपया जमा करने की सलाह भी मैं नहीं दे सकती।"

ऐसे अवसर पर सदैव बाक़र के सामने उसकी मृत पत्नी का चित्र खिंच जाता, उसकी अन्तिम अभिलाषा उसके कानों में गूंज जाती। वह आंगन में खेलती हुई रज़िया पर एक स्नेह-भरी दृष्टि डालता और विषाद

से मुस्कराकर फिर अपने काम में लग जाता। और आज—डेढ़ वर्ष के कड़े परिश्रम के बाद वह अपनी चिरसंचित अभिलाषा पूरी कर सका था। उसके एक हाथ में सांडनी की रस्सी थी और नहर के किनारे-किनारे वह चला जा रहा था।

सांझ की वेला थी। पश्चिम की ओर डूबते सूरज की किरणें धरती को सोने का अन्तिम दान कर रही थीं। वायु में ठण्डक आ गई थी, और कहीं दूर खेतों में टटिहरी टीहूं-टीहूं करती उड़ रही थी। बाक़र के मन में अतीत की सब बातें एक-एक करके आ रही थीं। इधर-उधर कभी-कभी कोई किसान अपने ऊंट पर सवार जैसे फुदकता हुआ निकल जाता था और कभी-कभी खेतों से वापस आने वाले किसानों के लड़के बैलगाड़ी में रखे हुए घास पट्ठे के गट्ठों पर बैठे बैलों को पुचकारते, किसी गीत का एक-आध बन्द गाते या बैलगाड़ी के पीछे बंधे हुए चुपचाप चले आने वाले ऊंटों की थूथनियों से खेलते चले जाते थे।

बाक़र ने, जैसे स्वप्न से जागते हुए, पश्चिम की ओर अस्त होते हुए अंशुमाली की ओर देखा, फिर सामने की ओर शून्य में नज़र दौड़ाई। उसका गांव अभी बड़ी दूर था। पीछे की ओर हर्ष से देखकर और मौन रूप से चली आने वाली सांडनी को प्यार से पुचकारकर वह और भी तेज़ी से चलने लगा—कहीं उसके पहुंचने से पहले रज़िया सो न जाए, इसी विचार से।

मशीर माल की काट नज़र आने लगी। यहां से उसका गांव समीप ही था। यही कोई दो कोस। बाक़र की चाल धीमी हो गई और इसके साथ ही कल्पना की देवी अपनी रंग-बिरंगी तूलिका से उसके मस्तिष्क के चित्र-पट पर तरह-तरह की तस्वीरें बनाने लगी।—बाक़र ने देखा, उसके घर पहुंचते ही नन्ही रज़िया आह्लाद से नाचकर उसकी टांगों से लिपट गई है और फिर डाची को देखकर उसकी बड़ी-बड़ी आंखें आश्चर्य और उल्लास से भर गई हैं। फिर उसने देखा, वह रज़िया को आगे बैठाए सरकारी खाले (नहर) के किनारे-किनारे डाची पर भागा जा रहा है। शाम का वक्त है, ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही है और कभी-कभी कोई पहाड़ी कौवा अपने बड़े-

बड़े पंख फैलाए और अपनी मोटी आवाज़ से दो-एक बार कांव-कांव करके ऊपर से उड़ता चला जाता है। रज़िया की खुशी का वारापार नहीं। वह जैसे हवाई जहाज़ में उड़ी जा रही है; फिर उसके सामने आया कि वह रज़िया को लिए बहावलनगर की मण्डी में खड़ी है। नन्ही रज़िया मानो भौंचक्की-सी है। हैरान और आश्चर्यान्वित-सी चारों ओर अनाज के इन बड़े-बड़े ढेरों, अगनित छकड़ों और हैरान कर देने वाली चीज़ों को देख रही है। बाक़र साह्लाद उसे सबकी कैफ़ियत दे रहा है। एक दुकान पर ग्रामोफ़ोन बजने लगता है। बाक़र रज़िया को वहां ले जाता है। लकड़ी के इस डिब्बे से किस तरह गाना निकल रहा है, कौन इसमें छिपा गा रहा है, यह सब बातें रज़िया की समझ में नहीं आतीं, और यह सब जानने के लिए उसके मन में जो कुतूहल और जिज्ञासा है, वह उसकी आंखों से टपकी पड़ती है।

वह अपनी कल्पना में मस्त काट के पास से गुज़रा जा रहा था कि सहसा कुछ विचार आ जाने से रुका और काट में दाख़िल हुआ।

मशीर माल की काट भी कोई बड़ा गांव न था। इधर के सब गांव ऐसे ही हैं। ज़्यादा हुए तो तीस छप्पर हो गए। कड़ियों की छत का या पक्की ईंटों का मकान इस इलाक़े में अभी नहीं। ख़ुद बाक़र की काट में पन्द्रह घर थे; घर क्या, झुग्गियां थीं। सिरकियों के ख़ेमे—जिन्हें झोंपड़ियों का नाम भी न दिया जा सकता था। मशीर माल की काट भी ऐसी ही बीस-पच्चीस झुग्गियों की बस्ती थी, केवल मशीर माल का निवास-स्थान कच्ची ईंटों से बना था; पर छत उसपर की छप्पर की ही थी। बाक़र नानक बढ़ई की झुग्गी के सामने रुका। मण्डी जाने से पहले वह यहां डाची का गदरा[1] (पलान) बनने के लिए दे गया था। उसे ख़याल आया कि यदि रज़िया ने सांडनी पर चढ़ने की ज़िद की तो वह उसे कैसे टाल सकेगा, इसी विचार से वह पीछे मुड़ आया था। उसने नानक को दो-एक आवाज़ें दीं। अन्दर से शायद उसकी पत्नी ने उत्तर दिया, "घर में नहीं हैं, मण्डी गए हैं।"

१, ऊंट पर बैठने की गद्दी

बाक़र का दिल बैठ गया। वह क्या करे, यह न सोच सका। नानक यदि मण्डी गया है तो गदरा क्या खाक बनाकर गया होगा! फिर उसने सोचा, शायद बनाकर रख गया हो। इससे उसे कुछ सान्त्वना मिली। उसने फिर पूछा, "मैं सांडनी का पलान बनाने के लिए दे गया था, वह बना या नहीं।"

जवाब मिला, "हमें मालूम नहीं।"

बाक़र का आधा उल्लास जाता रहा। बिना गदरे के वह डाची को क्या लेकर जाए। नानक होता तो उसका गदरा चाहे न बना सही, कोई दूसरा ही उससे मांगकर ले जाता। यह विचार आते ही उसने सोचा—'चलो मशीर माल से मांग लें। उनके तो इतने ऊंट रहते हैं, कोई न कोई पुराना पलान होगा ही। अभी उसीसे काम चला लेंगे। तब तक नानक नया गदरा तैयार कर देगा।' यह सोचकर वह मशीर माल के घर की ओर चल पड़ा।

अपनी मुलाज़मत के दिनों में मशीर माल साहब ने पर्याप्त धनोपार्जन किया था। जब इधर नहर निकली तो उन्होंने अपने पद और प्रभाव के बल पर रियासत में कौड़ियों के मोल कई मुरब्बे ज़मीन ले ली थी। अब नौकरी से अवकाश ग्रहण कर यहीं आ रहे थे। राहक[1] रखे हुए थे, आय खूब थी और मज़े से जीवन व्यतीत हो रहा था। अपनी चौपाल में एक तख्त पर बैठे वे हुक्का पी रहे थे—सिर पर श्वेत साफा, गले में श्वेत कमीज़, उसपर श्वेत जाकेट और कमर में दूध जैसे रंग का तहमद। गर्द से अटे हुए बाकर को सांडनी की रस्सी पकड़े आते देखकर उन्होंने पूछा, "कहो बाक़र, किधर से आ रहे हो?"

बाकर ने झुककर सलाम करते हुए कहा—"मण्डी से आ रहा हूं, मालिक।"

"यह डाची किसकी है?"

"मेरी ही है मालिक, अभी मण्डी से ला रहा हूं।"

"कितने को लाए हो?"

बाक़र ने चाहा, कह दे आठ-बीसी को लाया हूं। उसके खयाल में

---

१. मुजारा

ऐसी सुन्दर डाची २००) में भी सस्ती थी, पर मन न माना, बोला, "हज़ूर, मांगता तो १६०) था, पर सात बीसी ही में ले आया हूं।"

मशीर माल ने एक नज़र डाची पर डाली। वे स्वयं अर्से से एक सुन्दर-सी डाची अपनी सवारी के लिए लेना चाहते थे। उनके डाची तो थी, पर पिछले वर्ष उसे सीमक[1] हो गया था और यद्यपि नील इत्यादि देने से उसका रोग तो दूर हो गया था, पर उसकी चाल में वह मस्ती, वह लचक न रही थी। यह डाची उनकी नज़रों में जंच गई।—क्या सुन्दर और सुडौल अंग है; क्या सफेदी-मायल भूरा-भूरा रंग है; क्या लचलचाती लम्बी गर्दन है! बोले, "चलो, हमसे आठ बीसी ले लो, हमें एक डाची की ज़रूरत है, बीस तुम्हारी मेहनत के रहे।"

बाक़र ने फीकी हंसी के साथ कहा, "हज़ूर, अभी तो मेरा चाव भी पूरा नहीं हुआ!"

मशीर माल उठकर डाची की गर्दन पर हाथ फेरने लगे थे—वाह! क्या असील जानवर है। प्रकट बोले, "चलो पांच और ले लेना।"

और उन्होंने आवाज़ दी, "नूरे, अरे ओ नूरे!"

नौकर भैंसों के लिए पट्ठे कतर रहा था, गड़ांसा हाथ ही में लिए भाग आया। मशीर माल ने कहा, "यह डाची ले जाकर बांध दो! १६५) में, कहो कैसी है?"

नूरे ने हतबुद्धि-से खड़े बाक़र के हाथ से रस्सी ले ली और नख से शिख तक एक नज़र डाची पर डालकर बोला, "ख़ूब जानवर है," और यह कह-कर नौहरे[2] की ओर चल पड़ा।

तब वशीर माल ने अंटी से ६०) रुपये के नोट निकालकर बाक़र के हाथ में देते हुए मुस्कराकर कहा, "अभी एक राहक देकर गया है, शायद तुम्हारी ही क़िस्मत के थे। अभी यह रखो, बाक़ी भी एक-दो महीने तक पहुंचा दूंगा। हो सकता है, तुम्हारी क़िस्मत के पहले ही आ जाएं।" और बिना कोई जवाब सुने वे नौहरे की ओर चल पड़े। नूरा फिर चारा कतरने लगा था। दूर से ही आवाज़ देकर उन्होंने कहा, "भैंस का चारा रहने दे,

१. ऊंटों की एक बीमारी

२. भूसा आदि रखने का स्थान

पहले डाची के लिए गवारे का नीरा कर डाल, भूखी मालूम होती है।"
और पास जाकर सांडनी की गर्दन सहलाने लगे।

कृष्ण पक्ष का चांद अभी उदय नहीं हुआ था। विजन में चारों ओर कुहासा छा रहा था। सिर पर दो-एक तारे निकल आए थे और दूर बबूल और ओकांह के वृक्ष बड़े-बड़े काले-सियाह धब्बे बन रहे थे। फोग की एक झाड़ी की ओट में अपनी काट के बाहर बाक़र बैठा उस क्षीण प्रकाश को देख रहा था। जानता था रज़िया जागती होगी, उसकी प्रतीक्षा कर रही होगी। वह इस इन्तज़ार में था कि दिया बुझ जाए, रज़िया सो जाए तो वह चुपचाप अपने घर में दाख़िल हो।

१६३७

नासूर

शादी के दिन सुरजीत ने जल्दी-जल्दी लिखा :

"ईश्वर जी मुझे ले चलो। इसी वक्त। मेरी रूह पिंजरे की तीलियों में सदा के लिए बन्द हो जाने वाले पक्षी की भांति छटपटाती रहेगी। तिल-तिल करके क्या आप चाहते हैं, मैं जलती रहूं? आपने मुझे यह सब क्यों सिखाया, यह आर्ट, यह कला? मेरी आंखों को इतनी विशालता क्यों प्रदान की? मेरे हृदय को इतना भावुक क्यों बना दिया? मेरे मस्तिष्क को··· क्या इसीलिए कि इस समस्त विशालता और भावुकता के साथ, अपनी इन लम्बी-लम्बी अंगुलियों से (जो आपके कथनानुसार ख़ास तौर पर चित्रकला के लिए बनी हैं) मैं लोहे की सलाखों पर रंग किया करूं···"

और उसकी आंखें छलछला आईं। आंसुओं की एक-दो बूंदें कागज़ पर ढुलककर फैल गईं। कण्ठ में कुछ गोला-सा आकर अटक गया और हृदय की सिहरन से कलाइयों में पड़ी हुई लाल चूड़ियां झनझना उठीं और मस्तक के चांद का प्रतिविम्ब सामने लगी शृंगार-मेज़ के शीशे में झिलमिलाकर कमरे को रोशन करता हुआ विलीन हो गया।

समीप ही रसोईघर में अगणित प्लेटों के धोए, साफ़ किए जाने तथा रखे जाने की आवाज़ आ रही थी। स्वादिष्ट भोजनोंकी सुगन्धि वायुमण्डल के कण-कण में बसी जा रही थी। नौकरों और प्रवन्धकों की चिल्ल-पों के मारे कान पड़ी आवाज़ न सुनाई देती थी। परे हाल कमरे में बारात के बैठने का प्रबन्ध करने वाले लोगों में ईश्वर का कोई-कोई क़हक़हा गेलरी में

से होता हुआ वहां आ पहुंचता था और ऊपर बिसाती में ढोलक पर बच्चियां गा रही थीं—वालो अपने चन्न (चांद) से कहती है :

कोई मिश्री दी डली ओ डली,
ओ, कल असां टुर जाना;
फेर ढूंढेगा गली ओ गली।[1]

सुरजीत झुकी-झुकी लिख रही थी। बहुमूल्य साड़ी और बेशक़ीमत आभूषणों में आवृत उसके हुस्न को चार चांद लग गए थे।

किन्तु यह चांद शीतकाल के शुक्ल पक्ष की रातों के चांद थे, जिनकी दीप्ति प्रभात की धुंधियाली के कारण कुम्हलाई हुई हो।

सीधे खड़े होकर साड़ी के छोर से आंखों को पोंछते हुए उसने पत्र को पढ़ा। हाल कमरे से ईश्वर का क़हक़हा फिर गेलरी को गुंजाता हुआ आया।

पत्र को बन्द करते हुए उसने नौकर को आवाज़ दी।

रसोईघर के दरवाज़े पर उसके दादा खड़े थे। उनके चेहरे की नस-नस से उल्लास फूट रहा था। उनके जीवन में जैसे इससे बड़ा उल्लास का दिन फिर न आएगा। गाल उनके उभर आए थे, आंखें रोशन थीं और दाढ़ी के सफ़ेद बाल जैसे उनके आन्तरिक उल्लास के कारण चमक रहे थे।

सुरजीत कुर्सी में धंस गई। पत्र उसके हाथों में तुड़-मुड़ गया और फिर पुर्ज़े-पुर्ज़े हो गया।

उसी समय नौकर ने कहा, "कहिए बीबी जी ?"

"ईश्वर जी से कहो, इतने ज़ोर से न हंसें, सिर में दर्द-सा हो रहा है।"

नौकर पल-भर के लिए हैरान-सा खड़ा रहा, फिर चला गया।

और सुरजीत ने सोचा, 'आज ये इतनी ज़ोर से, इतना अधिक क्यों हंस रहे हैं ? पहले तो कभी यों नहीं हंसे !'

पांच महीने पहले

वसन्त के आरम्भ की एक दुपहरी में एक पतला सुन्दर युवक ४५

१. पंजाबी गीत—कल हम चले जाएंगे, फिर तू हमें गली-गली ढूंढ़ेगा।

कनाट प्लेस की सीढ़ियों की ओर बढ़ा—गले में सिल्क की कमीज़, उसपर अचकन, कमर में चूड़ीदार पायजामा, पैरों में कामदार जूता, और सिर पर सावधानी से बंधी हुई दस्तार—रंग उसका गेहुंआं था, रूप, रंग तथा वेश-भूषा से वह हंसमुख, हसीन-सूरत युवक मालूम होता था। बेपरवाही का उसमें यों कोई निशान न था। अचकन के बटन अवश्य खुले थे और कमीज़ के गले का भी, और कण्ठ का सुन्दर खम साफ़ दिखाई देता था। पर इतनी-सी बेपरवाही तो फ़ैशन में शामिल समझकर नज़र-अन्दाज़ की जा सकती है।

सीढ़ियों के पास आकर वह तनिक रुका। धूप बाहर तेज़ थी और उसके मस्तक पर पसीने की नन्ही-नन्ही बूंदें झलक आई थीं। जेब से एक तह किया हुआ दूध जैसा श्वेत रूमाल निकालकर उसने पसीना पोंछा। सुख की एक लम्बी सांस ली और फिर बेख़याली में उन चौड़ी सीढ़ियों की दीवार पर अपनी पतली लम्बी अंगुली से दिखाई न देने वाली लकीरें-सी बनाता हुआ वह धीरे-धीरे सीढ़ियां चढ़ने लगा।

जिस कमरे में कुछ क्षण बाद वह दाखिल हुआ, वह एक आर्टिस्ट का कमरा था। वैसे उसे ड्राइंग-रूम भी कहा जा सकता है। पर कमरे में महत्त्व की चीज़ें कौच, उनपर पड़े हुए रेशमी कुशन या दरम्यान में पड़ी हुई अख-रोट की लकड़ी की अठकोनी मेज़ और मेज़ पर पीतल के चार छोटे-छोटे हाथियों के मध्य रखा हुआ गुलदान या दरवाज़ों और खिड़कियों के भारी पर्दे न थे, बल्कि कमरे की दीवारों पर टंगी हुई चित्रकला की उत्कृष्ट कृतियां, अंगीठी के कपड़े की गुलकारी, उसपर पड़ी हुई एक प्रस्तर मूर्ति, एक कोने में रखा हुआ ईज़ल, उसपर फ़िट किया हुआ सिल्क का स्क्रीन, पास ही एक स्टूल पर रखी ट्रे में पैलेट, रंग का डिब्बा और ब्रश आदि थे।

कमरे में उस समय कोई न था। युवक ने बाहर ही से मीठे स्वर में आवाज़ दी, "सुरजीत !"

कमरा खाली था। आवाज़ फिर आई, "सुरजीत !"

फिर किवाड़ों पर प्यार-भरी टिक-टिक और युवक पावदान पर पांव पोंछता हुआ दरवाज़ा खोलकर अन्दर आ गया।

एक निमिष के लिए उसने इधर-उधर चित्रों पर दृष्टि डाली, फिर वह

स्क्रीन के पास गया। चारकोल का कुछ स्केच-सा बना था। ट्रे से चारकोल उठाकर उसने एक-दो लकीरें बनाते हुए आवाज़ दी, "सुरजीत !"

एक छोटे-से युवक ने अन्दर से झांका, "अभी आती हैं बाबू जी।" और एक प्लेट में कुछ मिठाई लाकर उसने मेज़ पर रख दी और पूछा, "सोडा पिएंगे या…"

"पानी !" और फिर, "नहीं-नहीं, कुछ भी नहीं…!"

नौकर चला गया। युवक ने मिठाई का एक नन्हा-सा टुकड़ा मुंह में रख लिया और बरामदे में जा खड़ा हुआ।

बाहर कमरे में ठण्डी हवा रमक रही थी। सामने फ़ुटपाथ पर लगे पेड़, जो नववयस्क होने के कारण अधिक ऊंचे नहीं हो पाए थे, मस्त झूम रहे थे। विशाल सड़क पर एक तांगा जा रहा था और उसमें कोई यौवन-माती जैसे अपनी ही दुनिया में मस्त बैठी थी। नीचे दुकान के सामने एक कार आकर खड़ी हो गई और उसमें से उतरकर, बटुआ हाथ में लिए, तेज़-तेज़ चलती हुई एक साड़ी दुकान के अन्दर चली गई और उसके पीछे सिगार का धुआं उड़ाता हुआ एक सूट। पास से दो सुर्ख़-सुर्ख़ गालोंवाले बच्चे लम्बे कालरों की कमीज़ें और नीली निकरें पहने बाइसिकलों पर जैसे उड़ते हुए गुज़र गए…।

युवक ने एक लम्बी सांस ली। वह मुड़ा। अन्दर से पांवों की चाप सुनाई दी और चित्र का फ्रेम उसे दिखाई दिया।

"जीवन भी क्या मन का प्रतिबिम्ब ही नहीं सुरजीत ?…" उसने कहना शुरू किया।

लेकिन जिसे वह सुरजीत समझे हुए था, वह सुरजीत के दादा निकले—

चित्र हाथों में लिए उसे देखते हुए आ रहे थे। दहलीज़ की ठोकर लगने से गिरते-गिरते बचे—गालों से उनके उल्लास फूटा पड़ता था। ख़ुशी की जैसे किरणें उनकी आंखों से निकल रही थीं।

युवक ने आंख उठाकर देखा—श्वेत दाढ़ी, भोला मुख, मुस्कराते ओठ—सरदार बहादुर सरदार गुरदयालसिंह को देखते ही उसकी आंखों में पितृ-भाव की एक विचित्र-सी श्रद्धा उमड़ पड़ी।

"सुरजीत आज न आएगी ?" उसने पूछा।

वृद्ध तनिक और समीप चले गए और उन्होंने भेद-भरे स्वर में कहा, "जालन्धर में टाटा के एजेण्ट हैं न सरदार साहब सरदार बलवीरसिंह, उनके पुत्र हैं महेन्द्रसिंह। एम० ए० हैं और अब श्रीनगर, कश्मीर में अपनी ब्रांच का काम देखते हैं। वे आज सुरजीत को देखने आएंगे। जालन्धर में दो कोठियां हैं उनकी और लाहौर में तथा कश्मीर में···" और उन्होंने कहा, "देखो इस तस्वीर को तुमने सुरजीत की सबसे अच्छी तस्वीर कहा था। सरदार शोभासिंह और चग़ताई साहब तक ने इसकी प्रशंसा की है, इसे इस कमरे में लगा दें न ?"

व्यंग्य-भरी मुस्कान के साथ युवक ने पूछा, "तो वे आर्टिस्ट हैं क्या ?"

हंसते हुए दादा ने कहा···"नहीं···पर···"

"हां-हां, लगा दीजिए !" वह बोला।

"और ये अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल वसु, कनु देसाई और चग़ताई के चित्रों की जगह भी सुरजीत की बनाई हुई तस्वीरें लगा दीजिएगा। ये सब चित्र शायद वे पसन्द न करें। आपको याद है न चरणसिंह···"

"यह तुमने ठीक कहा।" और बुज़ुर्ग जल्दी-जल्दी वापस चले गए।

फिर अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के 'स्वतन्त्र मृग' के स्थान पर 'गुरु नानक'; नन्दलाल वसु के 'प्रकृति-पुरुष' के स्थान पर 'दरबार साहब अमृतसर', रामगोपाल विजयवर्गीय के 'विकास' के स्थान पर 'गुरु तेग बहादुर' और कनु देसाई के 'बापू' के स्थान पर स्वयं अपने हाथ से बनाया हुआ सुरजीत का अपना चित्र लगाया गया।

जब कमरा विभिन्न कलाकारों के आर्ट की नुमाइश के स्थान पर एक ही आर्टिस्ट के सब तरह के धार्मिक चित्रों की प्रदर्शनी बन गया और वे चित्र, जिनपर भारत के इन उत्कृष्ट कलाकारों ने न जाने कितने बेशक़ीमत दिन व्यतीत किए थे और सुरजीत ने न जाने किस चाव से लाहौर, शिमला, दिल्ली और कलकत्ता की नुमाइशों से जिन्हें ख़रीदा था, अन्दर छोटे-से स्टोर-रूम में चले गए (जो मात्र सुरजीत के कला-सम्बन्धी सामान के लिए रिज़र्व था) तो वृद्ध सन्तोष की एक सांस लेकर बाहर बरामदे में जा बैठे और युवक कौच में धंस गया। लेकिन धंसने से पहले उसने इतना अवश्य पूछा था, "तो क्या आज मैं जाऊं···?" और जब उसके उत्तर में, "नहीं-

नहीं, आप···" कहते हुए बुजुर्ग उठे थे तो वह चुपचाप बैठ गया था।

वहीं बैठे-बैठे उसकी आंखें सुरजीत के चित्रों पर चली गई थीं—सुरजीत का अपने हाथ से बनाया अपना चित्र! कोई देख ले तो देखता ही रह जाए। यौवन का सवेरा उदय हो रहा था; आंखों में ठण्डक पहुंचाने वाली दीप्ति चारों ओर फैल रही थी और दर्शक का मन-प्राण उस ज्योति से उद्भासित हो उठता था।

सुरजीत का अपने हाथ से बनाया अपना चित्र···लेकिन वह जानता था कि उसने उस चित्र पर कितना परिश्रम किया था। उसके हृदय की समस्त शक्तियों ने किस प्रकार उसकी रेखाओं को उभारा था। क्या इसीलिए कि उसे देखकर एक लोहे का व्यापारी उसे पसन्द कर ले?

एक व्यंग्य-भरी मुस्कान उसके ओठों पर फैल गई। उसका दम घुटने-सा लगा, लेकिन उसी समय सुरजीत कमरे में दाखिल हुई। पंखुड़ियों से ओठ मुसकराए, लज्जा के भार से दबी-सी, जैसे तितली के पंखों-सी पलकें फड़फड़ाईं और हाथ जोड़ते हुए जैसे ओठों ही में उसने कहा, "सत श्री-अकाल, ईश्वर जी!"

ईश्वर! युवक हंसा और फिर, जैसे वह मीलों चलकर कौच में धंसा हो और उठने में उसे कष्ट हो रहा हो, अन्यमनस्कता के साथ अपनी हथेली को कौच पर रखकर उठा और ईज़ल के पास जाकर खड़ा हो गया।

"आप दो दिन आए नहीं?"

युवक ने उधर देखा और मुसकराया।

"यह मेरा चित्र, देखिएगा, मेरे सब चित्रों से बाज़ी ले जाएगा। मैं कहती हूं—ईश्वर जी, भावनाएं मेरे हृदय में इतनी हैं, इतने विचार हैं कि यदि कहीं कला पर मेरा अधिकार हो जाए तो न जाने किन चीज़ों का सृजन कर दूं? 'एक नूर से सब जग उपजिया'—शब्द तो आपने सुना होगा, पर इस शब्द की आदर्श व्याख्या (Idealistic Interpretation) का खाका भी तनिक देखिए।"

"लेकिन लोहे के व्यापारी शायद इसे पसन्द न कर सकें!" कोयला लेकर खाके की कुछ रेखाओं को ठीक करते हुए ईश्वर ने कहा।

सुरजीत का रंग कानों तक सुर्ख हो गया और उसने जैसे चौंकी हुई

मृगी की भांति पहली बार इधर-उधर देखा।

"यह क्या ? यह सब परिवर्तन किसने किया ?" उन चित्रों को देखते हुए सुरजीत ने कहा।

"इसलिए कि लोहे का व्यापारी तुम्हें पसन्द कर ले। जानती हो न चरणसिंह की बात···"

ये चरणसिंह एक प्रोवेशनरी मैजिस्ट्रेट थे। अत्यधिक ग़रीब के घर पैदा होकर अपनी मेहनत के बल पर पी० सी० एस० की परीक्षा में सर्व-प्रथम आए थे। एक चित्र के अपेक्षाकृत 'नंगेपन' को देखकर उन्होंने कहा था, 'जो इन चित्रों को बना सकती है (या शायद कहा था कि जो ऐसे चित्र ड्राइंग-हाल में लगा सकती है) वह एक घर को सुखी नहीं बना सकती—फिर सुन्दरता में चाहे वह हूर ही क्यों न हो।' उनकी यह बात उनके एक मित्र द्वारा ईश्वर तक पहुंची थी। उस समय तो प्रकट उन्होंने यही कहा था कि लड़की पढ़ी हुई अधिक है और उन्हें इतनी शिक्षित नहीं चाहिए।

"ईश्वर जी···"

और रुआंसी होकर वह वहीं कौच में धंस गई और युवक अन्यमनस्कता से चारकोल से स्क्रीन पर लकीरें बनाने लगा।

पांच वर्ष पहले

ईश्वर अपने स्टूडियो में मात्र एक रेशमी कमीज़ और तहबन्द पहने तूलिका हाथ में लिए एक चित्र में रंग भर रहा था। चित्र चूंकि मन की इच्छा के अनुसार उतर रहा था, इसलिए वह साथ-साथ हल्के स्वर में सीटी भी बजाए जा रहा था—'अपूर्ण गान'—जीवन-मार्ग पर, किसी शाम के धुंधलके में, जब पश्चिम के क्षितिज पर गहरे नीले बादलों में स्वर्ण-रेखाएं नदियों-सी झिलमिला उठती हैं, एक युवक और युवती आ मिलते हैं। कुछ दूर इकट्ठे चलते हैं; एक-दूसरे का परिचय पाते हैं; हृदयों के तारों से प्रेम का संगीत झंकृत हो उठता है, पर अभी वह गान समाप्त नहीं होता कि जीवन-मार्ग का मोड़ आ जाता है, जहां से उन्हें अलग होना है···

तभी नौकर ने कार्ड देते हुए कहा, "सरदार बहादुर सरदार गुरदयाल सिंह !"

और कार्ड को वहीं रखकर, ड्रेसिंग गाउन पहन, वह आगन्तुक से मिलने को तैयार हो गया।

आगन्तुक सरल स्वभाव के वृद्ध थे। घनी लम्बी श्वेत दाढ़ी और भारी मूंछों में से भी जैसे उनके ओठों की मुस्कान छनकर चेहरे को प्रदीप्त कर रही थी।

"मैं आपका अधिक समय न लूंगा।" उन्होंने सोफे पर बैठते हुए कहा, "मैंने आपके आर्ट की बहुत तारीफ़ सुनी है। मेरे एक पोती है, एक मात्र वही मेरी खुशी का केन्द्र है। मेरा लड़का इन्जीनियर था। वह, उसकी बीवी, बच्चे सब क्वेटा के भूचाल में दब गए!" और इस घटना की स्मृति-मात्र से उनकी आंखें सजल हो गईं, "बस एक यही लड़की बच गई थी," उन्होंने कहना शुरू किया, "पिता ने तरस-तरस कर प्राप्त किया था उसे, बाजे बजवाए थे, शीरनी बांटी थी, पर अपने जीवन में वह उसे उसके घर सुखी देखने का चाव भी पूरा न कर सका।"

और अवरुद्ध कण्ठ को बरबस गीला करके और संयत होकर उन्होंने कहा, "एफ़० ए० में अपनी श्रेणी में द्वितीय रही थी। उसे चित्रकला का बड़ा शौक़ है, यदि आप कुछ समय दे सकें तो..."

ईश्वर ने विनय के स्वर में क्षमा मांगते हुए कहा कि वह ट्यूशन नहीं करता।

वृद्ध कुछ मायूस हो गए। फिर उन्होंने कहा, "मेरी यह इच्छा थी कि आप कुछ न कुछ समय, चाहे सप्ताह में एक बार ही क्यों न सही, उसे अवश्य देते।" और फिर उन्होंने कहा, "उसे बहुत शौक़ है। उसका हाथ भी काफ़ी चलता है। आपको बहुत कष्ट न होगा, सिर्फ़ उसे मार्ग बताने की आवश्यकता है, वह चल पड़ेगी।"

वृद्ध की आकृति में जो प्रार्थना का भाव था और उनके स्वर में जो विनय थी, उसने कलाकार के हृदय को असमंजस में डाल दिया।

और वृद्ध ने फिर कहा—"पिता की यह अत्यधिक लाड़ली थी। अब, जब काल ने उसके सिर से पिता का हाथ उठा लिया है तो मैं उसे यह अभाव महसूस नहीं होने दूंगा। मैं उसकी हर इच्छा पूरी करूंगा।"

यह कहते-कहते उनकी वाणी आर्द्र हो गई थी और ईश्वर मान

गया था।

और जब दो दिन बाद बताए हुए समय पर वह उनके घर पहुंचा था और दरी पर बैठी हुई और कागज़ पर किसी चित्र का ख़ाका बनाती हुई एक तरुणी से वृद्ध ने कहा था—"सुरजीत, ये हैं तेरे नये मास्टर जी !" और तितली के पंखों-सी फड़कती, किन्तु लज्जा के भार से झुकी पलकें उठी थीं तो वह मुग्ध-सा रह गया था।

और फिर बाद को वह यह भी भूल गया था कि उसने सप्ताह में मात्र एक दिन आने का वादा किया है।

लेकिन यह सब तो पहले की बातें हैं। उस दिन तो इतना ही हुआ कि स्टूडियो में पड़े हुए ईज़ल, उसपर कसे स्क्रीन और उसपर बनने की बाट जोह रहे चित्र को भूलकर वह विवाह के हेतु किराये पर ली गई उस कोठी में सुरजीत के दादा का हाथ बटाता रहा था और नौकरों, हलवाइयों, विवाह के अवसर पर आने वाले दूर-नजदीक के रिश्तेदारों और उनके बच्चे-बच्चियों के शोर में उसके क़हक़हे गूंजते रहे थे।

और जब समय पर दूल्हा तशरीफ़ लाए थे और ज्ञानी ने शब्द पढ़ने आरम्भ किए थे तो सुरजीत चुपचाप 'ग्रन्थ साहब' के सामने जा बैठी थी।

इसके बाद एक वर्ष तक श्रीनगर से उसकी चिट्ठियां आती रही थीं। एक चिट्ठी में उसने लिखा था :

"...सब तरफ़ बहार छाई है, फूल खिले हैं, बग्गूगोशों के विटप फल ले आए हैं, लेकिन मेरे मन का फूल मुरझा गया है और फल शायद अब उसमें कभी न लगे..."

फिर एक चिट्ठी में लिखा :

"...याद है न ईश्वर जी, आपने एक बार कहा था—'मैं तुम्हारे यहां कभी ट्यूशन न करता, यदि यह कहते हुए कि—पिता की वह लाड़ली थी; अब, जब उसके सिर पर पिता का हाथ नहीं रहा, मैं उसे यह अभाव महसूस न होने दूंगा; मैं उसकी हर इच्छा पूरी करूंगा—तुम्हारे दादा की आंखें आर्द्र न हो जातीं और उनमें कोई स्वर्गीय चमक न झिलमिला उठती!' मुझे आपके मुंह से सुना उनका यह वाक्य बार-बार याद आता

है। उन्होंने मेरी सब इच्छाएं पूरी कीं या मैंने उनकी ?"

फिर एक बार लिखा :

"···ईश्वर जी, माता-पिता लड़कियों को सौ-सौ लाड़-प्यार से पालते हैं; ऊंची से ऊंची शिक्षा देते हैं; ललित कलाएं सिखा देते हैं—कोई संगीत में निपुणता प्राप्त करती है, कोई अच्छी लेखिका बन जाती है और कोई अभागिनी आर्टिस्ट ! फिर मां-बाप विवाह कर देते हैं—मेरी एक सहेली है, उसकी आवाज़ में जादू था, पर उसके वाद्य-यन्त्रों पर अब धूल पड़ी रहती है और उनके ढकने खोलने में भी उसे कष्ट होता है। एक दूसरी कभी अच्छी लेखिका बनने जा रही थी और उसके पिता बड़े गर्व से, उसे देखने के हेतु आनेवालों को, उसकी छपी कविताएं और कहानियां दिखाया करते थे, लेकिन अब उसे समाचारपत्र तक देखे हफ़्तों बीत जाते हैं। एक तीसरी थी सुरजीत—बड़ी भारी कलाकार बनने जा रही थी, पर अब···

"लेकिन छोड़ो। बाहर सुबह का सूरज कब का निकल आया है। खिड़की के शीशों में से मैं पहाड़ों की बर्फ़ानी चोटियों को चमकते देख रही हूं। रूह बाहर जाकर पहाड़ियों से उसे उदित होते देखने के लिए तड़पती रही है—पर वे तो खर्राटे ले रहे हैं और दस बजे तक लेते रहेंगे···"

ये पत्र कभी पखवाड़े, कभी महीने और कभी दो-दो महीने बाद आते रहे और फिर उनका सिलसिला क़तई बन्द हो गया।

पांच वर्ष बाद

बसन्त के आरम्भ की एक दुपहरी में ईश्वर ४५ कनाट प्लेस की ओर ज़रा जल्दी-जल्दी जा रहा था। सिर पर दस्तार ही थी, पर उसे सावधानी से बंधी हुई हम नहीं कह सकते। गले में सिल्क की कमीज़ थी और उसपर अचकन, लेकिन दोनों का रंग तनिक मैला था। ऊपर की जेब का रूमाल अब निचली दाईं जेब में पड़ा था—दूध जैसा सफ़ेद भी अब वह न था और तह भी अब उसकी नहीं लगी हुई थी। कमर में चूड़ीदार पायजामा था, लेकिन पांवों में कामदार जूते की जगह सिर्फ़ चप्पल थी—कुछ ऐसी बेपरवाही उसपर छाई हुई थी जो फ़ैशन में शामिल नहीं कही जा

सकती ।

आकाश पर श्वेत, मटमैले, नीले, काले बादलों के टुकड़े बिखरे थे, जैसे अम्बर के इस विशाल स्क्रीन पर किसी अज्ञात कलाकार ने अपनी तूलिका से कहीं हल्के और कहीं गहरे रंग के धब्बे बना दिए हों। सूर्य पर एक काले बादल का बड़ा-सा टुकड़ा छा गया था और दूर कोठियों के सिरों पर धूप चमक रही थी।

वह क्षण-भर के लिए रुका। मस्तक पर उसके पसीने की बूंदें नहीं थीं और होतीं भी तो उन्हें पोंछने का वह कष्ट न करता—आज पांच वर्ष बाद सुरजीत आई थी। अपने दादा की मृत्यु पर ही। और उसने सुना था कि इस पांच वर्ष के अर्से में वह तीन बच्चों की मां बन चुकी है।

सीढ़ियों की दीवार पर लकीरें-सी बनाता हुआ वह धीरे-धीरे चढ़ने लगा, परन्तु प्रत्येक सीढ़ी के साथ-साथ उसकी गति धीमी होती गई, यहां तक कि उनकी समाप्ति पर वह रुक गया।

जिस कमरे में कुछ क्षण बाद वह दाखिल हुआ वह कुछ ऐसे ही था, जैसे पांच वर्ष बाद वह कमरा हो सकता है, जिसे इस लम्बे अर्से में एक बार भी नारी के हाथों ने न छुआ हो—वही पर्दे थे, वही दरी, वही कौच, वही अखरोट का मेज़ और उसपर रखे हुए पीतल के हाथी, वही अंगीठी, और उसपर की प्रस्तर मूर्ति, वही तस्वीरें, जिन्हें इसलिए लगाया गया था कि लोहे का एक शिक्षित व्यापारी, उनकी बनाने वाली को पसन्द कर ले—सब कुछ वही था, मात्र एक हल्की-सी उदासी उन सबपर छाई हुई थी—कम से कम ईश्वर जब उस कमरे में आया तो उसे ऐसा ही प्रतीत हुआ।

आने से पहले उसने आवाज़ दी थी। सुरजीत का नाम लेकर नहीं, वरन् नौकर का नाम लेकर! फिर किवाड़ पर टिक-टिक की थी, पर उसके न खुलने पर अन्दर नहीं आया, बल्कि प्रतीक्षा करता रहा।

तब एक नन्ही-सी चार वर्ष की बालिका ने आकर कहा—"आ जाइए!"

और वह कौच पर जाकर बैठ गया और निर्निमेष उस कली-सी नन्ही बालिका की ओर देखने लगा। मां जैसा इकहरा पतला शरीर, लम्बी-

तीखी नाक, सुन्दर आयताकार चेहरा, फड़फड़ाती पलकें और पत्तियों-से ओठ—और हाथ पकड़कर उसने उसे अपनी गोद में खींच लिया—"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"लाड़ली !"

'लाड़ली'—दिल में उसने सोचा—'शायद तुम्हारे आने पर ही सुरजीत ने पत्र लिखना बन्द कर दिया था' पर प्रकट उसने उसे गोद में खींच लिया और अनिमेष दृगों से उसके मुख को देखने लगा और उसने उसे चूम लिया···

तभी सुरजीत एक बच्चे को गोद में उठाए हुए कमरे में दाखिल हुई। ईश्वर के चेहरे पर तनिक स्याही पुत गई, जैसे अपराध करते हुए उसे किसीने पकड़ लिया हो—लेकिन सुरजीत के शरीर में सनसनी-सी दौड़ गई—ऐसी कि इस पांच वर्ष के अर्से में तीन बच्चों की मां बनने पर भी न दौड़ी थी।

एक ओर चुपचाप वह कौच पर बैठ गई।

ईश्वर सब कुछ भूल गया। सुरजीत इतनी मोटी नज़र आती थी कि वह हैरान था, यह वही सुरजीत है या कोई और। आखिर उसने कहा, "आप तो कश्मीर जाकर खूब स्वस्थ हो गईं।"

सुरजीत विषाद से हंसी—"ऐसे नासूर क्या आपने नहीं देखे जो बाहर से अच्छे दिखाई देते हैं, लेकिन अन्दर की ओर बढ़ते चले जाते हैं ?"

कुछ क्षण ईश्वर स्तब्ध बैठा रहा, फिर उसने सुरजीत के दादा की मृत्यु की बात चला दी।

एक घण्टे बाद, जब वह लकीरें-सी बनाता हुआ धीरे-धीरे सीढ़ियों से उतर रहा था तो मन ही मन कह रहा था—ऐसे नासूर भी तो होते हैं जो अन्दर-बाहर दोनों ओर बढ़ते हैं। सुरजीत शायद उनको नहीं जानती।

१६३६

अंकुर

सग्गियां के पण्डित जयराम की लड़की सेंकरी के मन में बचपन ही से जिस चीज़ की उत्कट लालसा पैदा हो गई थी, वह सोने के आभूषण थे। उनमें भी सुनहरी कंगन तो जैसे उसकी अभिलाषा की चरम-सीमा बन गए थे।

सग्गियां की ग़रीब देहातिनों को चांदी की बालियों, चूड़ियों, कड़ों, कण्ठों और ऐसे ही अन्य रजत-आभूषणों के अतिरिक्त किसी दूसरे अलंकार का ज्ञान भी न था, पर गांव के साहूकार लाला शंकरदास की लड़की का विवाह जब जालन्धर के एक धनाधीश के सुपुत्र से हुआ तो गहनों में एक चीज़ आई, जिसकी प्रशंसा सबने मुक्त कण्ठ से की। वह चीज थी—सुनहरी कंगन। उन दिनों बाजूबन्दों का भी रिवाज था और ढोलक पर गाती हुई लड़कियां 'जुत्ती सितारियां वाली' की तर्ज़ पर—

वे बन्द लै दे ! वे बन्द लै दे ! सोने दे—
भावें तेरी पग्ग विक जाये ![1]

भी गाया करती थीं, पर औसत दर्जे के मध्यवर्गीय, जो दहेज़ में दोनों गहने न रख सकते थे, कंगन ही बनवाया करते थे।

तब सग्गियां की देहातिनों के लिए तो सभी गहने आंखों को चौंधिया देने वाले थे, पर कंगनों को देखकर तो आंखों के साथ उनका मुंह भी खुला

१. ऐ मेरे प्रिय, मुझे बन्द ले दे. मुझे बन्द ले दे—सोने के बन्द ! चाहे तेरी पगड़ी बिक जाए।

रह गया। प्राय: सभीने उन्हें हाथों में ले-लेकर देखा—सोलह तोले से कहीं अधिक भारी होंगे। पांच सौ से भी अधिक के! और सगियां की ग़रीब देहातिनों के लिए ऐसे बहुमूल्य गहने देखना स्वप्न में भी दुर्लभ था, फिर क्यों न वे उन्हें एक बार हाथ में लेकर देखने का गर्व अनुभव कर लेतीं।

उन्हींमें अपनी मां के साथ लगी खड़ी सेंकरी भी थी। उस समय उसे प्रबल इच्छा हुई कि वह भी एक बार उन भारी कंगनों को अपने नन्हे हाथों में लेकर देख ले, पर अपनी इच्छा को मां के सम्मुख रखने का साहस वह न कर सकी।

मां तो एक बार गहनों को देखकर फिर अपने काम में जा लगी। बारात को अभी आना था और उसे बहुत-से काम करने शेष थे—बेचारी ग़रीब ब्राह्मणी, समय पर पुरोहिताइन के साथ-साथ उसे महरी भी बन जाना पड़ता था। पर सेंकरी उसके साथ नहीं गई। मां और सखी-सहेलियों को छोड़कर, विमोहित-सी वह दीवार के साथ सिर लगाए खड़ी रही। उसकी दृष्टि वहीं आभूषणों पर जमी रही। जब-जब गांव की स्त्रियां उन आभूषणों को उठा-उठाकर देखतीं तो कल्पना ही कल्पना में वह भी ऐसा ही करती, यहां तक कि गहनों का स्पर्श तक उसे अपनी उंगलियों में महसूस होता।

जब नववधू को उबटन लगाकर नहलाया गया और उसे गहने पहनाए गए तो सेंकरी की दृष्टि उसकी कलाइयों पर ही जम गई।

तभी उसकी एक सहेली भागी-भागी आई और ईंट का छोटा-सा रोड़ा दिखाते हुए उसने कहा, "देख मैं यह लाई हूं, आ ढोलक बजाएं!"

पर सेंकरी वहां से नहीं हिली।

बाहर बाजे बजने लगे और बारात की आमद-आमद का शोर मच गया। स्त्रियां और बच्चे सब छतों पर जा चढ़े और दूसरे क्षण विवाह के मीठे गान वायु के कण-कण में गूंज उठे।

सेंकरी वहां से नहीं हिली, बल्कि जब वधू अकेली रह गई तो वह सकुचाती-सकुचाती उसके पास जा बैठी। चुपचाप घुटनों पर अपना सुन्दर मुखड़ा रखे वधू अपने पांवों के मेहंदी-रंगे अंगूठे से धरती कुरेद रही थी।

उसका ध्यान न जाने किधर था ? शायद वह एक ही दिन में अपने लड़की से वहू बन जाने की बात सोच रही थी। अपनी कलाइयों पर जमी हुई सेंकरी की दृष्टि और उस दृष्टि की उत्सुकता को देखकर वह मुस्कराई। सेंकरी की अंगुलियां, तब जैसे अनजाने ही में कंगनों को छूने का प्रयास कर रही थीं। दुल्हन ने हाथ ढीला छोड़ दिया और सेंकरी ने उन कंगनों को और उनके साथ की चूड़ियों को जी-भर देखा और उसके हृदय का उल्लास उसके मुख पर प्रतिबिम्बित हो उठा।

तब दुल्हन हंसी। उसने इधर-उधर देखा और फिर मुस्कराते हुए बोली, "तुम्हारे विवाह में भी ऐसे ही कंगन पड़ेंगे।"

कहते हैं कि चौबीस घण्टे में किसी न किसी क्षण प्रत्येक व्यक्ति की जीभ पर सरस्वती आ बैठती है। दुल्हन की ज़बान पर भी उस समय शायद सरस्वती ही आ बैठी थी, क्योंकि जब सेंकरी के विवाह में वर-पक्ष की ओर से आई हुई वरी के थालों पर से पतला हरा बुर्जी काग़ज़ उठाया गया तो गहनों के थाल में दूसरे आभूषणों के अलावा चमकते हुए भारी कंगनों की जोड़ी भी थी। देखकर सेंकरी मन में फूली न समाई थी। जब उसे उबटन मलकर नहलाया गया और उसकी कुन्दन-सी कलाइयों में कंगन डाले गए तो जैसे वे शरीर ही का अंग दिखाई देने लगे। सेंकरी की आयु उस समय केवल तेरह वर्ष की थी, पर उसके स्वस्थ अंग जवानी के स्वर्ण-प्रभात में, सुगठित और सुडौल, सांचे में ढले हुए लगते थे। कंगन उसकी कलाइयों में ऐसे फ़िट बैठे कि कुछ क्षण बाद सेंकरी को उनमें से एक को वहां से खिसकाना पड़ा। तब उसके स्थान पर रक्त इकट्ठा हो जाने से लाल-सी चूड़ी बन गई। बहुत देर तक विमुग्ध-सी वह उसे देखती रही और फिर हाथों में पड़े, मंगल-सूत्र की लम्बी-लम्बी तारों में बंधे 'कलीरों' और नाक में पड़ी हुई बड़ी शिकारपुरी नत्थ को संभालती-संभालती वह उठी और जाकर सहेलियों को अपना एक-एक गहना, उसकी बनावट, उसकी जड़ाई और गढ़ाई दिखाने लगी। तब रह-रहकर उसे इच्छा होती—काश वह दुल्हन, वह उनके यजमान शंकरदास की लड़की भी वहां होती तो अपनी भविष्यद्वाणी के प्रभाव को देखती !

सेंकरी के उल्लास तथा कुतूहल को देखकर बड़ी-बूढ़ियां अपने पोपले मुंह लिए हुए हंसती और उसके भाग्य को सराहतीहुई दुआएं देतीं—भिखमंगे ब्राह्मण की लड़की इतने बड़े घर जा रही है, इतने धनी के घर ! तो वे क्यों न उसके भाग्य को सराहें ! पर गांव की युवतियों को उसके भाग्य के प्रति कोई ऐसी ईर्ष्या न हुई थी। इतने बहुमूल्य सुन्दर गहने, उस दरिद्र ब्राह्मण की लड़की के अंगों में पड़े देख यदि किसीको जलन हुई भी तो यह जानकर कि चारपाई पर चारपाई जा रही है और पचास वर्षीय दूल्हे की पहली पत्नी अभी बैठी है, उनमें से बहुतों ने मुंह बिचका-बिचकाकर कह दिया था—संसार में सब कुछ गहने-कपड़े ही तो नहीं होते ! ···

सेंकरी के पति पण्डित महेश्वरदयाल जालन्धर के प्रसिद्ध ज्योतिषी थे। उन्होंने ज्योतिष-विद्या कहां से सीखी, इस सम्बन्ध में तो कई तरह की बातें प्रसिद्ध हैं, कोई कुछ कहता है, कोई कुछ, पर प्रचलित कहानी यह है कि वे 'पट-फेरा' करते थे, मतलब यह कि रंगने और कूटने के बाद रेशम की जो तारें आपस में उलझ जाती थीं, उनकी नये सिरे से गुच्छियां बनाते थे। किन्तु जापानी माल आने से जहां दूसरे घरेलू धन्धों को हानि पहुंची, वहां जालन्धर का यह प्रसिद्ध व्यवसाय भी खतम हो गया। तब लाला लोगों ने तो सराफ़े और बजाजी की शरण ली, पर पण्डित जी के लिए तो पुरखों के व्यवसाय का दरवाज़ा खुला था। कुछ सोए हुए यजमान जा जगाए, कुछ दबे हुए उखाड़ डाले, कुछ मुर्दा ज़िन्दा किए और धड़ल्ले से पुरोहिताई शुरू कर दी। इससे भी सन्तोष न हुआ तो एक दिन खोपड़ी घुटा, लम्बी चोटी को गांठ दे, माथे पर चन्दन के लम्बे-लम्बे टीके लगा और गले में रामनाम का दुपट्टा लपेटकर उन्होंने अपने ज्योतिषी होने का एलान कर दिया।

यों ज्योतिषी के नाते, उनकी धाक शायद उम्र-भर न जमती, पर भाग्य बलवान् था। उन्हें पहले ही से कुछ सट्टे की लत थी और ज्यों-ज्यों सारे पंजाब में और उसके फलस्वरूप जालन्धर में सट्टे का बाज़ार गर्म होता जाता, उनकी यह लत भी बढ़ती जाती। तभी ऐसा हुआ कि दो-तीन बार उन्हें दो-दो हज़ार रुपया सट्टे में आ गया। बस उन्होंनेयह साबित

कर दिया कि यह सब ज्योतिष ही का प्रताप है। फिर क्या था, सारा दिन 'सटई' उनको घेरे रहते। पण्डित जी संकेतों में बातें करते। जिनका अंक आ जाता, वे उनकी प्रशंसा करते, नज़राने देते, जिनका न आता वे समझते उन्होंने पण्डित जी का संकेत समझने में ग़लती की है। आगामी अंक पाने के हेतु वे और नज़राने देते। दोनों ही तरह पंडित जी की चांदी थी। दिनों ही में उन्होंने जालन्धर में अपना एक बड़ा मकान और दो दुकानें बनवा लीं और नक़द भी काफ़ी जमा कर लिया।

इस सब धन-वैभव के बावजूद पण्डित जी दुखी थे। कारण यह कि उनकी इस सम्पत्ति को उनके बाद संभालने वाला कोई न था। पत्नी थी, पर बच्चा कोई न हुआ था और इधर आयु उनकी पचासवां पार कर रही थी। उन्हीं दिनों जालन्धर की एक बारात के साथ वे सग्गियां गए। तभी जयराम पुरोहित के साथ उनकी भेंट हुई और तभी कंचन-जैसी उनकी लड़की को देखकर उनके मुंह में राल टपक आई। इतना हुआ तो फिर सब प्रबन्ध कर लेना ज्योतिषी महेश्वरदयाल के लिए कुछ कठिन न था। पण्डित जयराम तथा उनकी ब्राह्मणी को अपनी इस कड़ुवी बेल की तरह बढ़ने वाली लड़की को किसी न किसी तरह पार लगाने की चिन्ता थी। फिर वे ऐसा सुअवसर पाकर कैसे चूकते? विशेषकर जब बातों-बातों में अपनी जायदाद का विवरण देते हुए, ज्योतिषी जी ने उस सुख का भी ज़िक्र कर दिया था, जो उनके घर में बड़ी बेचैनी से नववधू की प्रतीक्षा कर रहा था। दोनों ओर से सब ख़र्च का प्रबन्ध भी उन्होंने अपने ज़िम्मे ले लिया और इस प्रकार लड़की को योग्य और धनी वर के हाथों सौंपकर पण्डित जयराम और उनकी पत्नी ने सुख की सांस ली और अपनी उस जायदाद का उत्तराधिकारी पाने की आशा के पुनः अंकुरित होने से ज्योतिषी महेश्वरदयाल एक बार फिर वृद्ध से युवा हो उठे।

ससुराल आने पर गहनों के प्रति सेंकरी का मोह और भी बढ़ गया। विवाह के बहुमूल्य आभूषणों के अतिरिक्त माथे का चांद, हाथों के लच्छे, बाज़ू का अनन्त, सिर की सिंगार-पट्टी और गले का रानी-हार पण्डित जी ने बनवा दिए। कई तरह की साड़ियां ला दीं। अपने अभाव को अपनी

श्रद्धा से पूरा करना अनायास ही वृद्ध प्रेमी जान जाते हैं। किन्तु जिस प्रकार बच्चा एक खिलौना पाकर दूसरे के लिए मचल उठता है, सेंकरी भी एक चीज पाकर दूसरी की फ़रमाइश कर देती और पण्डित जी तुरन्त ला देते। किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में महान अंतर था। बच्चा खिलौना पाकर अपनी कृतज्ञता से माता-पिता को प्रसन्न करने के बदले अपने हमजोलियों के मन में ईर्ष्या उत्पन्न करना, उन्हें अपनी इस नई सम्पत्ति से प्रभावित करना श्रेयस्कर समझता है। इसी प्रकार सेंकरी भी जब आभूषण पहनती तो पण्डित जी के पास बैठने के बदले अपनी सहेलियों को नये गहने दिखाने के लिए उसका मन व्यग्र हो उठता। पण्डित जी अपने घुटे हुए सिर पर हाथ फेरते हुए ललचाई आंखों से लावण्य की उस अनुपम मूर्ति को देखकर कहते—'तुम तो स्वर्ग की अप्सरा हो!' और उसे अपनी ओर खींचने का प्रयास करते।

पर सेंकरी अपने मैके जाने के लिए मचल उठती।

वास्तव में गहने-कपड़े पहनते-पहनते कुछ अजीब-सी कसमसाहट उसके तन में होने लगती, कुछ अज्ञात-सी आकांक्षा उसके हृदय में सुलगने लगती, किन्तु ज्योतिषी जी की ओर से उसके मन में कुछ भय-सा बना रहता और वह उनकी उपस्थिति से एकदम भाग जाना चाहा करती, इसीलिए सदैव ऐसे अवसरों पर किसी न किसी तरह रो-रुलाकर वह मैके चली जाती। वहां जब उसकी सहेलियां उल्लास तथा ईर्ष्या के मिले-जुले भावों के साथ उसका अभिनन्दन करतीं, उसके गहनों को हाथों में ले-लेकर हंसी-हंसी में पहन-पहनकर देखतीं तो वह कृतकृत्य हो जाती।

उसकी सहेलियां सोचतीं—काश, हमें इनमें से एक गहना भी प्राप्त हो सकता! और उनकी माताएं उस ब्राह्मण की छोकरी को बहुमूल्य गहनों-कपड़ों में आवृत देखकर एक दीर्घनिश्वास छोड़तीं और सोचतीं—क्यों न उनकी लड़कियों को ऐसा घर मिला? बला से पति उम्र का पका हुआ होता, लड़की तो राज करती।

किन्तु इस राज की वास्तविकता क्या है, शीघ्र ही सेंकरी को इसका पता चल गया। बात यह हुई कि अपने इस पति के राजा होने पर भी

सेंकरी को वही अपने गांव का ग़रीब घर अच्छा लगने लगा। धीरे-धीरे मैके रहने की उसकी अवधि बढ़ती गई, यहां तक कि एक बार जब पण्डित जी उसे लेने गए तो उसने जाने से साफ़ इन्कार कर दिया। उसने ऐसा क्यों किया, इसका भली भांति विश्लेषण तो वह स्वयं भी न कर पाई थी, पर उस 'राज-घर' में जैसे उसका दम घुटने लगता था। तब पण्डित जी ने सोने के बड़े-बड़े मनकों की कण्ठी बनवा देने का वादा किया। मां ने समझाया —बेटी, पति ही नारी का साथी है, उसका देवता है, यहां तक कि उसका परमेश्वर भी वही है, जैसे वह रखे, जिस हाल में रखे, उसीमें रहना चाहिए ! पिता ने उसे पहले झिड़कियां दीं, फिर वचन दिया कि उसे शीघ्र ही बुला लिया जाएगा। तब कहीं जाकर सेंकरी तैयार हुई, पर जब उसने फिर मैके जाने की ज़िद की तो पण्डित जी ने उसे झिड़क दिया— "वहां किससे आशनाई है, जो नित उठकर भागती रहती हो ?" उन्होंने कटु स्वर में कहा।

सेंकरी सन्न खड़ी रह गई। वह रोई नहीं, चिल्लाई भी नहीं, बस मूक, मर्माहत खड़ी रह गई। क्षोभ से उसका गला भर आया। सब कपड़े उसने उतार फेंके, गहने अन्दर ट्रंक में बन्द कर दिए, सुहाग की निशानी केवल दो चूड़ियां हाथों में पड़ी रहने दीं और फ़ैसला कर लिया कि अब चाहे वहां मर भी क्यों न जाए, मैके का नाम न लेगी।

वहीं खड़े-खड़े तब उसके सामने गांव के कई भोले-भाले युवकों के चित्र घूम गए थे, जिनको वह 'भाई' कहती थी, दिल को टटोलकर उसने देखा था, क्या इनमें किसीके साथ उसकी आशनाई थी ? हल्की-सी मुहब्बत भी थी ? दिल में उसे कहीं भी कुछ दिखाई न दिया, हल्की-सी लहर भी नहीं। उसके भोले-भाले दिल ने अभी पुरुष को इस रूप में देखना भी न सीखा था। और तब वह फफक-फफककर रो उठी।

ज्योतिषी जी ने देखा—निशाना बहुत आगे पड़ा है। स्वयं ही खयाल आया कि उनसे ज़्यादती हो गई है। तब उन्होंने उसे चुप कराने का प्रयास किया। खिसियानी-सी हंसी भी हंसे, गुदगुदाया भी, पर सेंकरी न खिली।

दूसरे दिन पण्डित जी सराफ़ की दुकान से सोने के बड़े-बड़े मनकों

वाली सुन्दर कण्ठी ले आए। सेंकरी ने उसे देखा। क्षण-भर के लिए उसकी आंखों में चमक पैदा हुई, पर ज्योतिषी जी की बात का ध्यान आ जाने से दूसरे क्षण वह मिट गई। पण्डित जी ने जब डिब्बा उसे दिया तो उसने चुपचाप लेकर रख लिया। उन्होंने लाख कहा कि इसे ज़रा पहनकर दिखा दो, देखें तो सही तुम्हारे सुन्दर गले में कैसी सजती है! पर सेंकरी चुप बैठी रही। हारकर उन्होंने उसे जी-भर कोसा, ताने भी दिए, झल्लाए भी और फिर उठकर बैठक में चले गए और न जाने कितनी जन्मपत्रियां खोल-खोलकर ढेर लगा, उनमें बैठ गए।

उस वक्त तो सेंकरी ने वह कण्ठी नहीं पहनी पर जब पण्डित जी चले गए तो उसे पहनकर देखने के लिए उसका मन बेचैन होने लगा। एक बार उसने उसे डिब्बे से निकाला भी, पर फिर वहीं रख दिया। तभी हन्दा[1] लेने वाली ब्राह्मणी परमेश्वरी का लड़का थाली उठाए आया। हंसमुख, नटखट, बाईस-तेईस वर्ष की उम्र, स्वभाव में कुछ भोलापन और बेपरवाही!

'आशनाई'—अनजाने ही में सेंकरी के मस्तिष्क में एक शब्द गूंज गया।

और उसने ब्राह्मण कुमार की ओर दबी निगाह से देखा, पर झट ही अपनी निगाहें फिरा लीं।

थाली के ऊपर से कपड़े का टुकड़ा हटाकर लड़के ने कटोरियां निकालकर रख दीं।

वहीं बैठे-बैठे सेंकरी ने पूछा, "तेरी मां क्यों नहीं आई आज?"

"बीमार है जी!" लड़के ने उत्तर दिया और फिर सेंकरी के पास आकर मुस्कराते हुए उसने कहा, "यह कण्ठी तो बड़ी सुन्दर है, कितने को आई है?"

सेंकरी ने कहा, "मालूम नहीं, पण्डित जी लाए हैं।"

और तभी उसका मन हुआ कण्ठी पहन ले।

युवक ने कहा, "पहनिए तो सही, ठीक आ गई आपके?" और यह कहकर वह ज़रा-सा हंस दिया।

सेंकरी ने तनिक आंख उठाकर उसकी ओर देखा। उसे उसकी यह हंसी बहुत सुन्दर लगी, साथ ही समस्त शरीर में एक झुरझुरी-सी दौड़

१. नियमित रूप से प्रतिदिन दान-स्वरूप दिया जानेवाला भोजन

गई। "मैंने देखी तो नहीं," और यह कहते हुए मुस्कराकर और फिर कनखियों से ब्राह्मण कुमार की ओर देखकर सेंकरी कण्ठी पहनने लगी।

कण्ठी का हुक गले के पिछली ओर था। नया होने के कारण और गर्दन में कण्ठी के बिलकुल फ़िट आने के कारण वह प्रयास करने पर भी उसे न लगा सकी। तब ब्राह्मण युवक ने सरल भाव से हंसते हुए आगे बढ़-कर उसे लगा दिया। ऐसा करते समय उसकी अंगुलियां सेंकरी की कोमल गर्दन से छू गईं।

सेंकरी के समस्त शरीर में फिर सनसनी-सी दौड़ गई।

हुक लगाकर सेंकरी की ओर मुग्ध दृष्टि से देखते हुए ब्राह्मण कुमार ने कहा, "बहुत सुन्दर लगती है यह आपको।"

तभी पण्डित जी एक लटकती हुई जन्मपत्री हाथ में लिए दाखिल हुए। आंखों में उनकी खून उतर आया, पर दूसरे क्षण बरबस मुस्कराहट ओठों पर लाकर उन्होंने कहा, "वाह, कैसी सुन्दर लगती है!"

सेंकरी का मन प्रसन्न था, वह हंस दी। इसके बाद वह सारा दिन खुश-खुश रही। जब वह युवक हन्दा लेकर चला गया था तो अपने कमरे में जाकर किवाड़ बन्द करके उसने सब गहने-कपड़े पहने और वह कण्ठी भी अपने गले में लगाई थी। तभी उसने महसूस किया था जैसे उस ब्राह्मण-कुमार की अंगुलियां उसकी गर्दन का स्पर्श कर रही हैं। इस प्रतीति के साथ ही उसके शरीर की नस-नस में वैसी ही झुरझुरी दौड़ गई, फिर कुछ विचित्र कसमसाहट होने लगी और अज्ञात-सी आकांक्षा की आग, जो उसके हृदय में कहीं दबी पड़ी थी, फिर सुलग उठी थी।

रात सेंकरी के सपनों की दुनिया आबाद रही थी। उस [दुनिया का एक राजा भी था और एक रानी भी। राजा और रानी, जैसे आदि काल के बिछुड़े, किसी नन्दन-कानन में आ मिले थे। रानी ने उपालम्भ-भरे स्वर में कहा था, 'तुम आते नहीं मेरे राजा और ये पहाड़-से दिन मुझसे काटे नहीं कटते और रातें...' और यह कहते-कहते रानी की आंखें सजल हो गई थीं। तब मुस्कराते हुए राजा ने कहा था, 'तुम घबराओ नहीं रानी, इसी नन्दन-वन में हम-तुम रोज़ मिला करेंगे।'

लेकिन दूसरे दिन जब सेंकरी का मन अन्य दिनों की अपेक्षा हल्का

था और सब गहने-कपड़े न सही, आसमानी रंग की साड़ी के साथ उसने अपने प्रिय कंगन, कर्णफूल, चूड़ियां और मोटे-मोटे सोने के मनकों की वह सुन्दर कण्ठी पहनी तो उसके सपनों का वह राजा न आया था।

परमेश्वरी ब्राह्मणी के स्थान पर हन्दा लेने के लिए पण्डित जी ने देवकी को लगा लिया था।

सारा दिन सेंकरी का शरीर शिथिल रहा था। अपने कमरे में वह अन्यमनस्क-सी लेटी रही थी और उसे अपने मैके की अपनी सहेलियों की याद पहले से कहीं ज़्यादा सताने लगी थी। गली में पण्डित जी ने उसका आना-जाना बन्द कर दिया था, मैके वह न जा-आ सकती थी और हंसमुख परमेश्वरी के स्थान पर सूखी-सड़ी देवकी आ गई थी और सेंकरी विह्वल हो उठी थी।

इस तरह लेटे-लेटे, करवटें बदलते-बदलते दिन ढल गया। कमरे में जैसे उसका दम घुटने लगा। वह उठी। आंगन में आई। मुंडेर पर एक कौआ कांव-कांव कर रहा था और ताक के ऊपर आगे को बढ़ी हुई महराब पर एक कबूतर पंख फुलाए, गर्दन झुकाए, अपनी प्रेयसी को मनाने की कोशिश में व्यस्त था, किन्तु जब वह मस्तानी चाल से चलता गुटरगूं-गुटरगूं करता उसके पास जाता, वह उड़ जाती। एक ताक से दूसरे पर, दूसरे से तीसरे पर, तीसरे से खटोले पर, खटोले से चारपाई के पाये पर और वहां से लकड़ी के जंगले पर कबूतरी जा-जाकर बैठी, पर उसने पीछा न छोड़ा। तब झपकी मारकर जो वह उड़ी तो अनन्त नील आकाश की गहराइयों में विलीन हो गई। कुछ क्षण कबूतर ने वहीं जंगले पर एक-दो चक्कर लगाए, 'गुटरगूं,' 'गुटरगूं' की, फिर वह भी आकाश की ओर उड़ गया।

लम्बी सांस भरकर सेंकरी ने अंगड़ाई ली, फिर उसने घड़े के ठण्डे पानी से हाथ-मुंह धोए। फिर जैसे किसी अज्ञात प्रेरणा से ऊपर छत पर खुले में चली गई।

सामने मुहल्ले के परले सिरे, अपने पुराने मकान की छत पर परमेश्वरी ब्राह्मणी का लड़का मौन, पुस्तक में ध्यान जमाए पढ़ रहा था। सेंकरी ने अनायास ही अपने बिखरे बालों पर हाथ फेरा। उसके मन में उमंग उठी, कुछ गाए, कुछ गुनगुनाए, कोई ढोलक का पुराना गीत, पर वह चुप,

अनिमेष दृगों से उधर देखती रही। मुहल्ले का नीम ठण्डी हवा के परस से जैसे मस्त होकर झूम रहा था। आकाश की गहराइयों में चीलें, एक-दूसरी के पीछे उन्मत्त भाग रही थीं। सेंकरी ने अंगड़ाई-सी ली। तभी युवक ने उसकी ओर देखा। सेंकरी के सिर से साड़ी का छोर उड़ गया था और उसके बिल्लौर ऐसे गले में कण्ठी के बड़े-बड़े सुनहरी मनके डूबते हुए अंशु-माली की किरणों से जैसे शत-शत सूरज बनकर चमक रहे थे।

सेंकरी का मुख कानों तक सुर्ख हो गया। और युवक ने एक बिजली-सी अपने समस्त शरीर में दौड़ती हुई महसूस की।

तभी नीचे सीढ़ियों में पण्डित जी के चप्पलों की फट-फट सुनाई दी। वह जल्दी से नीचे चली गई और मुस्कराते हुए उसने पण्डित जी का स्वागत किया, यजमानों के घर से जो कुछ वे ले आए थे, उसके सम्बन्ध में एक-दो मज़ाक भी किए, पर न जाने पण्डित जी को उसके चेहरे पर क्या लिखा हुआ नज़र आया कि सब कुछ जल्दी-जल्दी उसे संभालकर वे बहाने से छत पर गए और उन्होंने दूर सामने के मकान की छत पर पढ़ते हुए युवक को घूरकर देखा। तभी उसने भी सिर उठाया, दोनों की आंखें चार हुईं। पण्डित जी ने अपनी चोटी पर हाथ फेरते हुए एक हुंकार भरी और जैसे निमिषमात्र के लिए हैरान-सा होकर युवक ने आंखें फिर पुस्तक में गाड़ लीं।

दूसरे दिन सेंकरी अभी बिस्तर से भी न उठी थी कि उसने देखा—सामने के मकान की ओर शहनशीन की जगह पूरा साढ़े पांच फ़ुट ऊंचा ईंटों का पर्दा बनाने का आयोजन राज-मज़दूर कर रहे हैं।

यह थी उस राज की वास्तविकता और सेंकरी को पता चल गया कि इस राज के राजा और बन्दीख़ाने के जेलर में कोई अंतर नहीं और अपने पति की ओर से उसके मन में जो भय-सा था, वह एक तीव्र घृणा में परि-वर्तित हो गया और दिन-प्रतिदिन इस घृणा की तह और भी गहरी होती गई और यह सब उस समय तक जारी रहा, जब तक इस घृणा और भय के बावजूद वह एक लड़की की मां न हो गई और पुत्र की आकांक्षा मन ही मन में लिए, अपने विवाह के पूरे पांच वर्ष बाद, नवजात कन्या के प्रथम

जन्मदिवस को ज्योतिषी जी परलोक न सिधार गए।

तब अपने इस वृद्ध जल्लाद ऐसे पति की मृत्यु पर अपनी भावनाओं का विश्लेषण सेंकरी भली भांति न कर पाई थी। उसका मन हल्का भी था और एक भारी बोझ तले दवा हुआ भी प्रतीत होता था। ज़ोर-ज़ोर से हंस पड़ने को भी उसका जी चाहता था और ऊंचे-ऊंचे रो उठने को भी मन होता था। पर वह अधिक रोई ही थी। अपना एक-एक गहना उतारकर उसने ट्रंक में रखा, और फिर प्रथा के अनुसार पड़ोसिनों और दूर-नज़दीक के रिश्तेदारों के साथ मिलकर उसने छाती भी पीटी, बाल भी नोंचे और आंखें भी सुजा लीं।

मां ने तब आकर उसे सान्त्वना दी थी कि बेटी, विधाता का लेख तो अमिट है, उसकी आज्ञा के बिना एक तिनका तक नहीं हिल सकता। जिस हाल में वह रखे, उसीमें रहना चाहिए और फिर मां ने गांव की कई लड़कियों की मिसालें देकर समझाया था कि गांव में बारह-बारह वर्ष की उम्र में विधवा हो जाने वाली स्त्रियां बैठी हैं और अपने पति के नाम का अवलम्ब लेकर उन देवियों ने अपना सारे का सारा जीवन काट दिया है। यह तो फिर परमात्मा का शत-शत धन्यवाद है कि ज्योतिषी जी दोनों दुकानें और मकान उसके नाम छोड़ गए हैं, नहीं उसे तो यही डर था कि कहीं सौत और उसके रिश्तेदार ही सिर पर न सवार हो जाएं। इस तरह परमात्मा को धन्यवाद देकर मां ने सेंकरी को नेक सलाह दी थी कि बेटी, अपने छोटे भाई को यहां बुलवा लेना। वह यहां नगर में रहकर पढ़ जाएगा। तीस रुपया तो दुकानों का किराया ही आ जाता है, यह इतना बड़ा मकान भी क्या करना है, आधा किराये पर चढ़ा देना, और मन को धर्म-कर्म के कामों में लगाना। और फिर उसने यह भी प्रस्ताव किया था कि गहने सब जाते-जाते वह स्वयं ले जाएगी। यहां सौ चोर-चकार का डर रहता है, जब लड़की सयानी हो जाएगी तो आ जाएंगे। और फिर जैसे हवा में देखते हुए मां ने कहा था, "रामू का विवाह भी करना है और घर की हालत तो तुमसे छिपी नहीं।"

और सेंकरी ने जैसे बिना कुछ सुने ही यह सब स्वीकार कर

लिया था।

× × ×

रात जब अपने मकान की खुली छत पर सेंकरी सोई तो उसे नींद न आई। साथ लगी बच्ची स्तन मुंह में लिए ही सो गई थी। सेंकरी ने उसे अलग किया और करवट बदली। ऊपर आकाश में पूर्णिमा का चांद अपनी शुभ्र ज्योत्स्ना के साथ चमक रहा था। ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी। सेंकरी के हृदय से एक दीर्घ निश्वास निकल गया। इन एक-दो वर्षों में जीवन को वह कितना समझने लगी थी। दाईं ओर एक ढीली-सी चारपाई पर गठरी-सी बनी हुई मां पर उसकी दृष्टि गई और ग्लानि से उसका गला भर आया—यह विधाता की लेखनी है अथवा मां-बाप का लेख? मां की ममता और पिता का प्रेम—सब व्यर्थ की बातें हैं, परिस्थितियों की झंझा का एक झोंका भी तो वे सह नहीं सकतीं, नहीं तो प्रतिदिन इतने मां-बाप अपनी लड़कियों को इस प्रकार भट्टी में न झोंक देते। सेंकरी को तब एक और बात याद हो आई जो एक दिन ज्योतिषी जी ने अपने कुल की कुलीनता का बखान करते हुए सुनाई थी। उन्होंने कहा था—पिछले वक्तों में कुलीन घरानों में तो लड़की पैदा होते ही उसका गला घोंट देते थे। वृद्धा दादियां, परदादियां और जहां वे न होतीं, वहां माताएं लड़की पैदा होते ही उसका गला घोंट देती थीं और जहां माताएं इस योग्य न होतीं, वहां दाइयां ही पुण्य का यह काम बड़ी सुगमता से सरअंजाम देकर नवजात बालिकाको पोटली में बांधकर धरती में गाड़ आती थीं!—नारी ही नारी पर कितने अत्याचार करती है?—उसने सोचा और वहां पड़े-पड़े जैसे उसका दम घुटने लगा। एक सर्वग्राहिनी ज्वाला, जैसे उसके अन्तर में धू-धू करके जल उठी। उसकी मां ने क्यों न जन्मते ही उसका गला घोंट दिया? और आंखों के भीजे हुए कोरों को आंचल से पोंछकर उसने करवट बदल ली! मुहल्ले के नीम पर बैठा हुआ बिरड़ों (छोटे उल्लुओं) का जोड़ा कर्कश स्वर में 'बिरड़-बिरड़' कर उठा और ऊपर गगन में एक बड़ी-सी चमगादड़ अपने परों की छाया दीवार पर डालते हुए गुज़र गई।

सेंकरी के सामने उसके सब गहने एक-एक करके आए—चौंक, फूल,

क्लिप, कांटे, कण्ठी, माला, रानीहार, बाजूबन्द, कंगन, लच्छे, अनन्त···
तो क्या वह इनमें से एक को भी अंग न लगा सकेगी? क्या इन्हें अब उसकी भावजें पहनेंगी? अपने इन प्रिय आभूषणों के लिए क्या वह एकदम पराई हो जाएगी? और जैसे एक असह्य ईर्षा से उसका तन-मन जल उठा और एक बार अपने उन प्रिय आभूषणों को जी भरकर देख लेने की इच्छा उसके मन में प्रबल हो उठी। उसने इस इच्छा को दबाने का प्रयत्न भी किया; अपने वैधव्य का भी उसे ख़याल आया; विधवाओं के धर्म और समाज के प्रतिबन्धों की बात भी उसने सोची; पर उसकी वह इच्छा क्षण-प्रतिक्षण बलवती होती गई। आख़िर वह धीरे से उठी। उसने मां की ओर दबी आंखों से देखा, दिन-भर छाती पीटकर थकी हुई वह ख़र्राटे ले रही थी। सेंकरी पंजों के बल चलती हुई अपने कमरे में पहुंची। अपने सब बहुमूल्य कपड़े उसने निकाल लिए, तभी नीचे से वह लाल साड़ी निकली, जिसे उसने विवाह के दिन पहना था और एक अज्ञात प्रेरणा से उसने अपने वस्त्र उतारकर उसे पहनना शुरू कर दिया। साड़ी पहनकर उसने गहने निकाले। एक-एक करके उनको पहना। हाथों में कंगन पहनते समय उसे मालूम हुआ, वह कितनी कमजोर हो गई है और उसकी आंखों के सामने रक्त के इकट्ठा हो जाने से कलाई पर बनी लाल-लाल चूड़ी घूम गई। वह शीशे के सामने गई। उसके गोल-गोल कल्लों पर गढ़े पड़ चले थे, जबड़ों की हड्डियां दिखाई देने लगी थीं और अभी उसकी उम्र सिर्फ अठारह वर्ष की थी।

दीर्घ-निश्वास लेकर वह वहीं ट्रंक पर बैठ गई और उसकी आंखों के सामने चार वर्ष पहले की एक घटना घूम गई, जब परमेश्वरी ब्राह्मणी के हंसमुख लड़के ने उसकी कण्ठी का हुक बांध दिया था। उसी दिन की तरह एक अज्ञात आनन्द की झुरझुरी-सी उसके शरीर में दौड़ गई।

दूर कहीं मुसलमानों के मुहल्ले में मुर्ग़ ने अज़ान दी। चौंककर सेंकरी उठी। उसने सब गहने उतारकर ट्रंक में बन्द किए, कपड़े बदल, फिर तह लगाकर रखे और दबे पांव ऊपर पहुंची। चांद तब दाईं ओर के ऊंचे मकान की ओट में चला गया था और चारपाइयों पर हल्का-सा अंधेरा छा गया

था। चुपचाप सेंकरी अपनी चारपाई पर जा लेटी।

दूसरे दिन जब मां वापस जाने लगी और अन्दर ले जाकर उसने सेंकरी से गहने मांगे तो वह टाल गई। जब मां चली गई तो उसने देवकी को हटाकर फिर परमेश्वरी को रख लिया।

१९३८

चारा काटने की मशीन

रेल की लाइनों के पार, इस्लामाबाद की नई आबादी के मुसलमान जब सामान का मोह छोड़, जान का मोह लेकर भागने लगे तो हमारे पड़ोसी लहनासिंह की पत्नी चेतीं।

"तुम हाथ पर हाथ धरे नामर्दों की भांति बैठे रहोगे," सरदारनी ने कहा, "और लोग एक से एक बढ़िया घर पर कब्ज़ा कर लेंगे।"

सरदार लहनासिंह और चाहे जो सुन लें, परन्तु औरत ज़ात के मुंह से 'नामर्द' सुनना उन्हें कभी गवारा न था। इसलिए उन्होंने अपनी ढीली पगड़ी को उतारकर फिर से जूड़े पर लपेटा; धरती पर लटकती हुई तहमद का किनारा कमर में खोंसा; कृपाण को म्यान से निकालकर उसकी धार का निरीक्षण करके उसे फिर म्यान में रखा और फिर इस्लामाबाद के किसी बढ़िया 'नये' मकान पर अधिकार जमाने के विचार से चल पड़े।

वे अहाते ही में थे कि सरदारनी ने दौड़कर एक बड़ा-सा ताला उनके हाथ में दे दिया। "मकान मिल गया तो उसपर अपना कब्ज़ा कैसे जमाओगे?" उसने कहा, "अपना ताला तो लेते जाओ।"

सरदार लहनासिंह ने एक हाथ में ताला लिया, दूसरा कृपाण पर रखा और लाइनें पार कर इस्लामाबाद की ओर बढ़े।

खालसा कॉलिज रोड अमृतसर पर, पुतली घर के समीप ही हमारी कोठी थी। उसके बराबर एक खुला अहाता था। वहीं सरदार लहनासिंह

चारा काटने की मशीनें बेचते थे। अहाते के कोने में दो-तीन अंधेरी-सीली कोठरियां थीं।

मकान की क़िल्लत के कारण सरदार साहब वहीं रहते थे। यद्यपि काम उन्होंने डेढ़-दो हज़ार रुपये से आरम्भ किया था, पर लड़ाई के दिनों में (किसानों के पास रुपये का बाहुल्य होने से) उनका काम खूब चमका। रुपया आया तो सामान भी आया और सुख-सुविधा की आकांक्षा भी जगी। यद्यपि प्रारम्भ में उस अहाते और उन कोठरियों को पाकर पति-पत्नी बड़े प्रसन्न हुए थे, परन्तु अब उनकी पत्नी, जो 'सरदारनी' कहलाने लगी थी, उन कोठरियों तथा उनकी सील और अंधेरे को अतीव उपेक्षा से देखने लगी थी। ग्राहकों को मशीनों की फुर्ती दिखाने के लिए दिन-भर उनमें चारा कटता रहता था। अहाते-भर में मशीनों की कतारें लगी थीं जो भावना-रहित हो अपने तीखे छुरों से चारे के पूले काटती रहती थीं। सरदारनी के कानों में उनकी कर्कश ध्वनि हथौड़ों की अनवरत चोटों-सी लगने लगी। जहां-तहां पड़े हुए चरी के पूले और चारे के ढेर अब उसकी आंखों को अखरने लगे। सरदार लहनासिंह तो—यद्यपि उनकी पगड़ी और तहमद रेशमी हो गई थी और उनके गले में लकीरदार गबरून की कमीज़ का स्थान घुटनों तक लम्बी बोस्की की कमीज़ ने ले लिया था—वही पुराने लहनासिंह थे। उन्हें न कोठरियों की तंगी अखरती थी, न तारीकी, न मशीनों की कर्कशता, न चारे के ढेरों की निरीहता, बल्कि वे तो इस सारे वातावरण में बड़े मस्त रहते थे। वे उन सरदारों में से थे जिनके सम्बन्ध में एक सिख लेखक ने लिखा है कि जिधर से पलटकर देख लो, सिख दिखाई देंगे।

कुछ पतले-दुबले हों, यह बात नहीं। अच्छे-खासे हृष्ट-पुष्ट आदमी थे और उनकी मर्दुमी के परिणाम-स्वरूप पांच बच्चे जोंकों की तरह सरदारनी से चिपटे रहते थे। परन्तु यह सरदारनी का ढंग था। उसे यदि सरदार लहनासिंह से कोई ऐसा काम कराना होता, जिसमें कुछ बुद्धि की आवश्यकता हो तो वह उन्हें 'बुद्धू' कहकर उकसाती और यदि ऐसा काम कराना होता, जिसमें कुछ बहादुरी की ज़रूरत हो तो उन्हें 'नामर्द' का ताना देती। उसका ढंग था तो ख़ासा अशिष्ट, पर रुपया आने और अच्छे कपड़े पहनने ही से तो अशिष्ट आदमी शिष्ट नहीं हो जाता। फिर सरदारनी

को नये धन का मान चाहे हो, शिष्टता का मान कभी न था।

सरदार लहनासिंह इस्लामाबाद पहुंचे तो वहां मार-धाड़ मची हुई थी। उनकी चारा काटने की मशीनें जिस प्रकार भावना-रहित होकर चरी के निरीह पूले काटती थीं, कुछ उसी प्रकार उन दिनों एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयाइयों को काट रहे थे। सरदार लहनासिंह ने अपनी चमचमाती हुई कृपाण निकाली कि यदि किसी मुसलमान से मुठभेड़ हो जाए तो तत्काल उसे अपनी मर्दुमी का प्रमाण दे दें। परन्तु इस ओर जीवित मुसलमान का निशान तक न था। हां, गलियों में रक्तपात के चिह्न अवश्य थे। और दूर लूट-मार की आवाज़ें भी आ रही थीं।

तभी, जब वे सतर्कता से बढ़े जा रहे थे, उनको अपने मित्र गुरदयालसिंह एक मकान का ताला तोड़ते दिखाई दिए।

सरदार लहनासिंह ने रुककर प्रश्न-सूचक दृष्टि से उनकी ओर देखा।

"मैं तो इस मकान पर कब्ज़ा कर रहा हूं।" सरदार गुरदयालसिंह ने एक उचटती हुई दृष्टि अपने मित्र पर डाली और निरन्तर अपने काम में लगे रहे।

तब सरदार लहनासिंह ने ढीली होती हुई पगड़ी का सिरा निकालकर पेच कसा और अपने मित्र के नये मकान की ओर देखा। उसे देखकर उन्हें अपने लिए मकान देखने की याद आई और वे तत्काल बढ़े। दो-एक मकान छोड़कर उन्हें सरदार गुरदयालसिंह की अपेक्षा कहीं बड़ा और सुन्दर मकान दिखाई दिया, जिसपर ताला लगा था। आव देखा न ताव, उन्होंने गली में से एक बड़ी-सी ईंट उठाई और दो-चार चोटों ही में ताला तोड़ डाला।

वह मकान यद्यपि बहुत बड़ा न था, परन्तु उनकी उन कोठरियों की तुलना में तो स्वर्ग से कम न था, कदाचित् किसी शौकीन क्लर्क का मकान था, क्योंकि एक छोटा-सा रेडियो भी वहां था और ग्रामोफ़ोन भी। गहने-कपड़े न थे और ट्रंक खुले पड़े थे। मकान वाला शायद मार-धाड़ से पहले शरणार्थी कैम्प या पाकिस्तान भाग गया था। जो सामान वह आसानी से साथ ले जा सका था, ले गया था। फिर भी ज़रूरत का काफ़ी सामान घर

में पड़ा था। यह सब देखकर सरदार लहनासिंह ने उल्टी कलाई मुंह पर रखी और ज़ोर से बकरा बुलाया।[1] फिर तहमद की कोर को दोनों ओर से कमर में खोंसा और सामान का निरीक्षण करने लगे।

जितनी काम की चीज़ें थीं, वे सब चुनकर उन्होंने एक ओर रखीं, अनावश्यक उठाकर बाहर फेंकीं, वही बड़ा ताला, जो वे घर से लाए थे, मकान में लगाया, गुरदयालसिंह को बुलाकर समझाया कि उनके मकान का ख़याल रखें और स्वयं अपना सामान लाने चले कि मकान पूर्ण रूप से उनका हो जाए।

जब वे अपने घर पहुंचे तो उन्हें ख़याल आया कि सामान ले जाएंगे कैसे? इस भगदड़ में तांगा-इक्का कहां? तब अहाते से साइकिल लेकर वे अपने पुराने मित्र रामधन ग्वाले के यहां पहुंचे, जिसकी बैलगाड़ी पर (ट्रकों पर लाने-ले जाने से पहले) वे अपनी चारा काटने की मशीनें लादा करते थे। मिन्नत-समाजत कर, दोहरी मज़दूरी का लालच देने के बाद वे उसे ले आए।

जब सारा सामान गाड़ी में लद गया और वे चलने को तैयार हुए तो सरदारनी ने साथ चलने का अनुरोध किया। तब उन्होंने उस नेक-बख़्त को समझाया कि वहां के दूसरे सरदार अपनी सिंहनियों को बुला लेंगे तो वेभी ले जाएंगे। वे लाख सिंहनियां सही—सरदार लहनासिंह ने अपनी पत्नी को समझाया--पर हैं तो औरतें ही और दंगे-फ़िसाद में औरतों ही को अधिक सहना पड़ा है। फिर उन्होंने समझाया कि अहाते का भी तो ख़याल रखना चाहिए। शरणार्थी धड़ाधड़ आ रहे हैं,कौन जाने यहां घर खुला देखकर जम जाएं।

सरदारनी मान गई,परन्तु जब सरदार लहनासिंह चलने लगे तो उसने सुझाया कि वे सामान के साथ चारा काटने की एक मशीन ले जाकर अवश्य अपने नये घर में स्थापित कर दें, ताकि उनकी मलकियत में किसी प्रकार का सन्देह न रहे और सभीको पता चल जाए कि यह मकान चारा काटने

१. पंजाबी जाट जब बहुत प्रसन्न होते हैं तो उल्टी कलाई मुंह पर रखकर बकरे की-सी आवाज़ निकालते हैं।

की मशीनों वाले सरदार लहनासिंह का है।

सरदारनी का यह प्रस्ताव सरदार जी को बहुत अच्छा लगा।

यद्यपि बैलगाड़ी में और स्थान न था, परन्तु सामान पर सबसे ऊपर चारा काटने की एक मशीन किसी न किसी प्रकार रखी गई, गिर न जाए, इसलिए रस्सों से उसे कसकर बांधा गया और सरदार लहनासिंह अपने नये घर पहुंचे। गली ही में उन्होंने देखा कि सरदार गुरदयालसिंह की सिंहनी और बच्चे तो नये मकान में पहुंच भी गए हैं। तब उन्हें लगा कि उनसे भारी ग़लती हो गई है। उन्हें भी अपनी सिंहनी को तत्काल ले आना चाहिए। यदि पतला-दुबला गुरदयाल अपनी सिंहनी को ला सकता है तो वे क्यों नहीं ला सकते।

यह सोचना था कि सारे सामान को उसी प्रकार ड्योढ़ी में रख, वहीं बड़ा-सा ताला लगा, उन्होंने गुरदयालसिंह से कहा कि भाई ज़रा ख़याल रखना, मैं भी अपनी सिंहनी को ले आऊं, संगत हो जाएगी।

और उसी बैलगाड़ी पर सरदार लहनासिंह उल्टे पांव लौटे। घर पहुंचकर उन्होंने अपनी सरदारनी को बच्चों के साथ तत्काल तैयार होने के लिए कहा।

परन्तु एक-डेढ़ घण्टे के बाद जब अपने बीवी-बच्चों सहित सरदार लहनासिंह इस्लामाबाद पहुंचे तो उनके नये मकान का ताला टूटा पड़ा था। ड्योढ़ी से उनका सारा सामान ग़ायब था। केवल चारा काटने की मशीन अपने पहरे पर मुस्तैदी से जमी हुई थी। घबराकर उन्होंने गुरदयालसिंह को आवाज़ दी, परन्तु उनके मकान में कोई और सरदार विराजमान थे। उनसे पता चला कि गुरदयालसिंह दूसरी गली के एक और अच्छे मकान में चले गए हैं। तब सरदार लहनासिंह कृपाण निकालकर अपने मकान की ओर बढ़े कि देखें चोर और क्या-क्या ले गए हैं।

ड्योढ़ी में उनके प्रवेश करते ही दो लम्बे-तड़ंगे सिखों ने उनका रास्ता रोक लिया, बैलगाड़ी पर सवार उनके बीवी-बच्चों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि यह मकान शरणार्थियों के लिए नहीं। इसमें थानेदार बलवन्तसिंह रहते हैं।

थानेदार का नाम सुनकर सरदार लहनासिंह की कृपाण म्यान में चली गई और पगड़ी कुछ और ढीली हो गई।

"हुज़ूर, इस मकान पर तो मेरा ताला पड़ा था। मेरा सारा सामान···"

"चलो-चलो बाहर निकलो। अदालत में जाकर दावा करो। दूसरे के सामान को अपना बताते हो।"

और उन्होंने सरदार लहनासिंह को ड्योढ़ी से ढकेल दिया। तभी लहनासिंह की दृष्टि चारा काटने की मशीन पर गई और उन्होंने कहा :

"देखिए, यह मेरी चारा काटने की मशीन है, किसीसे पूछ लीजिए, मुझे यहां सभी जानते हैं।"

परन्तु शोर सुनकर अपने 'नये' मकानों से जो सरदार या लाला बाहर निकले उनमें एक भी परिचित आकृति लहनासिंह को न दिखाई दी।

"यों क्यों नहीं कहते कि चारा काटने की मशीन चाहिए," उनको धकेलने वाले एक सिख ने कहा और वह अपने साथी से बोला, "सुट्ट ओ करतारसिंहा, मशीन नूं बाहर। गरीब शरणार्थी हण। असां इह मशीन साली की करनी ऐं।"

और दोनों ने मशीन बाहर फेंक दी।

दो-ढाई घण्टे के असफल वाबेले के बाद जब सरदार लहनासिंह रात आ गई जानकर वापस अपने अहाते को चले तो उनके बीवी-बच्चे पैदल जा रहे थे और बैलगाड़ी पर केवल चारा काटने की मशीन लदी हुई थी।

१९४८

आकाशचारी

मुझे ऐसा लग रहा है, जैसे मैं लेटा नहीं हूं, चल रहा हूं। चल भी नहीं रहा हूं, हवा में उड़ा जा रहा हूं और यह सारी की सारी राजधानी, उसकी गगनचुम्बी इमारतें, चौड़ी कुशादा सड़कें, लहलहाते पार्क—यह इतनी अपार भीड़ मेरे पैरों के नीचे, मेरी विजय का स्वागत करती हुई श्रद्धा से विनत है। परिषद् का पुरस्कार मेरी प्रतिभा के सामने कोई माने नहीं रखता था। मैं तो अपने को संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार का अधिकारी मानता हूं। लेकिन जब एक बार मेरी पुस्तक का नाम आ गया तो फिर उसका न चुना जाना मेरी पराजय थी। यह ठीक है कि मेरे भय से चुनाव करने वालों ने शेष दो पुस्तकों को भी नकार दिया और कह दिया कि कोई भी पुस्तक पुरस्कार के योग्य न थी। पर क्या यह मेरा अपमान नहीं था? मैं, जो यह मानता हूं कि मेरा हर शब्द भाषा के सीने पर एक ऐसा अमिट गोदना है, जो दिन-प्रतिदिन एक नई आभा से चमकता जाएगा, इस बात को कैसे स्वीकार कर लेता कि मेरी पुस्तक उस अकिंचन पुरस्कार के योग्य न समझी जाए! मैं, जो अपने-आपको काव्य, कहानी और उपन्यास—साहित्य के सभी क्षेत्रों में युग-प्रवर्त्तक समझता हूं, जिसने अपनी इस भाषा को इस योग्य बनाया है कि लोग उसमें फिर से 'साहित्य' रच सकें, नई और गहरी बात कह सकें—उस भोंडी, कच्ची, अनगढ़, फूहड़ भाषा को, जिसने नई आभा, नई व्यंजना, नये अर्थ और नया परिष्कार दिया, कैसे वह सहन करता?...'सकोगे?'...'सकूंगा!'...मेरे सामने मेरा ही एक प्रयोग घूम

रहा है। कितने अभिव्यंजनापूर्ण शब्द हैं ! एक-एक शब्द में साधारणतः अपनी इस भाषा में लिखे जाने वाले पूरे के पूरे वाक्य समा गए हैं। आंख के संकेतों जैसे न जाने कितने ऐसे व्यंजक शब्द मैंने इस भाषा को दिए और ईर्ष्यालु कहते हैं कि मुझमें मौलिकता नहीं; कि मैं अंग्रेज़ी से चुराता हूं; कि मैं मृत भाषा इस्तेमाल करता हूं; कि जनता के सीधे सम्पर्क से दूर मैं अपने गजदन्ती मीनार में बैठकर एक-एक शब्द, एक-एक मुहावरा गढ़ता हूं, जो कभी जनसाधारण के होंठों पर न चढ़ पाएगा।···उन मूर्खों को कौन समझाए कि साहित्य में भी एक आभिजात्य होता है, कि मौलिकता का कोई महत्त्व नहीं है, कि बिना नूतन अभिव्यजना के, बिना परिष्कार के, मौलिकता महज़ कच्चा माल है और कच्चा माल साहित्य नहीं होता। उपनिषदकार क्या मौलिक थे ? गीताकार क्या मौलिक थे ? पुराणों की कहानियां क्या सबकी सब मौलिक हैं ? सूर, तुलसी और कबीर क्या मौलिक थे ? और क्या टैगोर ही ने सब कुछ मौलिक लिखा ?—वेदों से उपनिषदकारों ने लिया, गीताकार और पुराणकारों ने उपनिषदों से, सूर, तुलसी और कबीर ने उन सबके विचार चुराए, टैगोर ने न जाने किन ख़ज़ानों के मोती उड़ाए—महत्त्व मौलिकता का नहीं, अभिव्यंजना, परिष्कार और समन्वय का है।···'सकोगे ?'···'सकूंगा !'···मेरे सेंसुअल होंठ (सविता कहा करती थी—प्र० जी आपके होंठ बड़े सेंसुअल हैं।)एक मीठी मुस्कान में फैल जाते हैं···मैं जैसे पैरों के नीचे बिछी राजधानी पर तैरता चला जा रहा हूं।···'सकोगे !' 'सकूंगा !'···और मैं क्या नहीं सका ? तीन वर्ष के बाद झख मारकर परिषद ने उसी पुस्तक पर मुझे पुरस्कार दिया, जिसे उसने इस योग्य न समझा था···नहीं सका मैं ?···अभी कुछ ही वर्ष पहले जो लोग मुझे खत्म हुआ, चुक गया समझते थे, अब कैसे मेरे इर्द-गिर्द मंडरा रहे हैं। कैसे फिर अपनी पुस्तकें मेरे नाम समर्पित कर अपने-को धन्य समझ रहे हैं···वह मेरे पद-चिह्नों पर चलने वाला अहंकारी, जिसने मुझे तृतीय कोटि का उपन्यासकार घोषित कर दिया था, अब अपना कथा-संग्रह मुझे समर्पित करते हुए लिखता है—"प्र० जी के लिए, जिन्होंने कहानी को अपनी इस भाषा में फिर एक बार सम्भव बनाया, परवर्तियों के आभार सहित !"···परवर्तियों के आभार सहित···इसे कहते

हैं विजय ! जो व्यक्ति स्वयं मुझे मानने को तैयार नहीं था, वह सभी दूसरों को लेकर मेरे आगे नतशिर है ! ···राजधानी में कोई फ़न्क्शन नहीं होता, जिसमें पहले मुझे अध्यक्ष-पद के लिए पूछा न जाए। मैं इनकार कर देता हूं, क्योंकि मैंने ऐसी स्थिति बना ली है कि लोग मेरा इनकार सुनना भी अपना सौभाग्य मानें और फिर-फिर मुझे बुलाएं ! मैंने अपनी स्थिति बना ली है कि मैं चुनाव कर सकूं। मैंने अपनी स्थिति बना ली है और मैं इनकार कर देता हूं। तब लोग दूसरे तथाकथित साहित्यकारों और आचार्यों को पूछते हैं। कल तक द्वितीय श्रेणी के जो लोग, संसद्-स्थित साहित्यकारों की चापलूसी कर, साहित्यकार और आचार्य बन गए थे, जिन्होंने दल बांधकर प्रतिभा-सम्पन्नों का बहिष्कार किया, कैसे मैंने उनके सिंहासन हिला दिए हैं···'सकोगे ?'···'सकूंगा !' और कैसा मज़बूत दल मेरे इर्द-गिर्द इकट्ठा हो गया है—मेरे संकेत पर साहित्यिक आन्दोलन छेड़ देने वाला, मेरा झण्डा उठाए भारत-भर में मेरा डंका बजाने वाला ! ···किस प्रान्त में मेरे नाम की कसमें खाने वाले, मेरे लिए सिर फोड़ने-फोड़वाने वाले नहीं हैं ! बड़े-बड़े तीसमारखानों की, अपने-आपको महान कहाने वालों की, वर्षों से प्रतिष्ठित कवियों और उपन्यासकारों की पत उतारकर मेरे चाहने वालों ने नहीं रख दी क्या ! ···मेरे सामने आचार्य क—की सूरत घूम जाती है। द्वितीय श्रेणी में एम० ए० करके वे नये-नये एक सबर्बन कॉलेज में पढ़ाने लगे हैं और कई प्रयासों के बाद मुझसे मिलने में सफल हुए हैं···अंग्रेज़ का ज़माना है। मैं रेडियो में ऑनरेरी सलाहकार हूं···मेरे सामने बैठे वे आध घण्टे से मिनमिन कर रहे हैं, उनकी इच्छा है, मैं उन्हें रेडियो में इन्ट्रोड्यूस करूं; कहानी, समालोचना, वार्ता कुछ भी दूं···लेकिन मुझे वे नितान्त प्रतिभाहीन, कोरे मेहनती लगते हैं, मैं उनकी मिनमिन को चुपचाप सुनता रहता हूं, और फिर एक 'अच्छा' कहकर सिर के सूक्ष्म-से झटके से उन्हें उठा देता हूं।···फिर वे कभी मुझसे मिलने नहीं आते। विश्वविद्यालय के विभागीय अध्यक्ष की जूतियां सीधी करके येन-केन प्रकारेण डाक्ट्रेट की डिग्री ले लेते हैं। उनके सौभाग्य से देश स्वतन्त्र हो जाता है और दुनिया-जहान के प्रतिभाहीन, मीडियाकर दिल्ली की कुर्सियों पर आसीन हो जाते है। तब वे भी तिकड़म भिड़ाकर एक विश्वविद्यालय में विभागीय अध्यक्ष

बन जाते हैं। उन दिनों जब उनसे मेरा एक प्रशंसक कहता है (कि मैं उस ज़माने में उस नगर ही में अस्थायी रूप से निवास करता हूं) कि मेरा उपन्यास, जिसने साहित्य में नये युग का सूत्रपात किया है, पाठ्यक्रम में रखा जाए तो वे उपेक्षा से मुंह विदोर कर कहते हैं कि वह तो पश्चिमी लेखकों का उच्छिष्ट-मात्र है और घोषणा करते हैं कि जब तक वे हैं, उनके विश्वविद्यालय में तो क्या, किसी दूसरे विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भी वे भरसक उसे न लगने देंगे।···और वे पाठ्यक्रम बोर्डों, इन्टरव्यू समितियों और सरकारी कमेटियों पर—सब जगह अधिकार कर लेते हैं। दस तिकड़मों से विभिन्न प्रान्तीय विश्वविद्यालयों में अपने छात्रों को लेक्चरर और अध्यक्ष नियुक्त करा देते हैं। एक बार उनपर कोई व्यंग्य करता है—'आचार्य जी, आपके बैल कहां-कहां नहीं हैं? आप बछड़े भरती करते हैं और उन्हें मरकहे बैल बनाकर बाहर भेज देते हैं।'···आचार्यजी हंसते हैं, 'वे मरकहे दूसरों के लिए हैं, मेरे लिए तो वे खस्सी हैं!'··· आचार्य जी ठीक कहते हैं। जब उनके बैल छात्रों के रूप में विश्वविद्यालय में गए थे तो वे मुंह-ज़ोर बछड़े ही थे, लेकिन ऐसे प्राण-हीन पाठ्यक्रमों से, जिनमें नवीनता की तनिक गंध न थी, उनके दिमाग़ों में भुस भर दिया गया। फिर अपने प्रिय छात्र-छात्राओं को अधिकाधिक नम्बर देकर, आने वालों को बता दिया गया कि जिसे डिवीज़न और कैरियर चाहिए, वह कौन-सा रास्ता अपनाए और यों उन्हें ख़स्सी करके अध्यापक, प्राध्यापक, लेक्चरर और अध्यक्ष बनाकर भारत-भर में फैले विश्वविद्यालयों में भेज दिया गया और उन ख़स्सी बैलों ने देश में खस्सी अध्यापकों और आलोचकों की एक पूरी की पूरी पीढ़ी तैयार कर दी।···लेकिन अब आचार्य जी का सिंहासन डोलने लगा है, क्योंकि मैंने भी ख़स्सी सांडों की एक खेप तैयार कर दी है जो उनके बैलों के मुकाबिले में अधिक मरकहे हैं···'सकोगे!' 'सकूंगा'·· जब उन्होंने मेरे उपन्यास को पाठ्यक्रम में नहीं रखा था और कहा था कि हम उस लेखक को पढ़ाते हैं, जो अपनी मृत्यु के पच्चीस-पचास वर्ष बाद भी ज़िन्दा रहता है (हालांकि अपनी कृतियों को, जो पौराणिक आख्यानों की सरल सार-मात्र हैं अथवा जिनमें ऐतिहासिक तथ्यों का गला उल्टे छुरे से रेता गया है, वे इस योग्य समझते हैं कि वे उनके जीवन ही में

हर विश्वविद्यालय में पढ़ाई जाएं और उनकी साहित्यिक 'उपलब्धियों' पर शोध-कार्य किया जाए) तब मैंने अपने-आपसे प्रश्न किया था—'सकोगे ?' और मैंने स्वयं उत्तर दिया था—'सकूंगा !'···और मैं सका ! मैंने उन्हींके हथियारों का उनपर प्रयोग किया। उन्होंने ख़स्सी करने को जो बछड़े चुने थे, वे दिमाग़ से कोरे थे। उनके ख़ाली दिमाग़ों में उन्होंने भुस भरा। फिर उनके अहं को पूरी तरह मारकर, उन्हें नितान्त निर्वीर्य बनाकर, अपनी गाड़ी में जोत लिया। मैंने तैयार जवान बछड़े चुने। जो सबके सब प्रतिभा-सम्पन्न थे और कुछ तो, यदि ठीक रास्ते पर लगे रहते, मुझसे आगे निकल जाते, मैंने उनका अहं कुचलने के बदले, उसे सहलाया। इसके बाद बस यह किया कि उनकी दृष्टि बदल दी। उनकी अभिव्यक्ति को उल्टे रास्ते मोड़ दिया। उनमें से एक भी मेरे जैसा अभिजात नहीं था। वे सबके सब निम्न मध्यवर्ग के थे। साधारणता के बीच से उठे थे। महत्त्वाकांक्षी ! आदर्शवादी ! मैंने बस यह किया कि उनके मन में जो अपने को अभिजात समझने और बनने की छिपी कामना थी—जनता कॉफ़ी हाउस में बैठने के बदले स्टैंडर्ड या वैंगर्ज़ में चाय-कॉफ़ी पीने की !—उसे बढ़ावा दिया। मैंने उन्हें पहले साहित्य के कॉफ़ी हाउस से उठाकर साहित्य के स्टैंडर्ड में ला बैठाया।—वे सीधी-सादी, सरल रचनाओं के बदले जीवन की यथार्थता से दूर, कठिन, पेचीदा, दुर्बोध, अस्पष्ट, व्यक्तिवादी रचनाएं करने लगे। उनमें मेरे जैसा आभिजात्य तो था नहीं। मेरे जैसी रचना करना उनके बूते से बाहर था। अपना थान वे छोड़ चुके थे, दूसरा उनके बस का नहीं था। उस समय जब वे दुविधा-ग्रस्त थे, मैंने उन्हें अपने थान से ला बाँधा। उनकी उन प्राण-हीन और दुर्बोध रचनाओं के अनुवाद स्वयं अंग्रेज़ी में किए, अपने देशी-विदेशी मित्रों से सांठ-गांठ कर उन्हें देश-विदेश में छपवाया, उन्हें बड़ी-बड़ी नौकरियां दिलाकर उनका आज़ादी से कुदकड़े मारना भुलाया। वे अपने-आपको मुझीसे नहीं, संसार के सारे साहित्यिकों से बेहतर समझते हैं, लेकिन वे बुरी तरह ख़स्सी हैंऔर उन्हें इसका एहसास भी नहीं।···चूंकि वे मेरी छत्र-छाया में बड़ी-बड़ी नौकरियां करते हैं, इसलिए वे मुझे मानते हैं और मेरे अर्ध-संकेत पर लोगों की पगड़ियां उछालने को तैयार रहते हैं। मुझे तो बल्कि संकेत भी करने

की ज़रूरत नहीं रहती। जो भी मेरा विरोधी है, वे उसके पीछे पड़ जाते हैं और लोग कहने लगे हैं कि मैंने क्रान्तिकारी दल से यही सीखा है, कि मैंने गैंगस्टर और मवाली इकट्ठे कर लिए हैं।··· प्रतिभा-सम्पन्न कवियों, कथाकारों, उपन्यासकारों, आलोचकों को एक दल में संगठित कर मवाली बना देना···क्यों आचार्य जी, आपके ख़स्सी प्राध्यापकों की तुलना में, कैसे हैं ये मेरे ख़स्सी मवाली···और मैंने अपने से पूछा था—'सकोगे ?'···जाल बिछा दिया है आप ही की तरह मैंने भी···और आपके ख़स्सी बैल मेरे खर्स्सा सांड़ों की दया-माया पर निर्भर रहने लगे हैं·· आपके हाथ में यदि विश्वविद्यालय है तो मेरे हाथ में लाखों की पूंजी से चलने वाला पत्र है,···सभी शहरों में उसके रिपोर्टर हैं, जिन्हें अपने शत्रुओं के विरुद्ध झूठी, तुड़ी-मुड़ी, विषभरी एकांगी रिपोर्टें तैयार करने के लिए मैं खासी रकमें दिलवाता हूं और आपके ख़स्सी बैल अपना सारा मरकहापन छोड़कर निरीह बनते जा रहे हैं ! ··· और आप मेरी पुस्तक को उस अकिंचन पुरस्कार के योग्य भी नहीं समझते थे। कहते थे कि मेरी सबसे कमज़ोर पुस्तक है।—है ! यही मेरी विजय है कि उस कमज़ोर पुस्तक पर ही, सारे विरोध के बावजूद, मैंने पुरस्कार पाया है···और आप देखिएगा, मैं कैसे देश-विदेश के बड़े-बड़े पुरस्कार जीतता हूं। संसार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देश मेरे साथ है। इस देश में उसका लाखों रुपया मेरे संकेत पर वितरित होता है। मैं ही भारत में उसका साहित्यिक सलाहकार हूं···इनाम की मुझे ज़रूरत नहीं, मैं तो स्वयं इनाम बांटता हूं···वह तो केवल आप जैसे मूर्खों को यह दिखाना था कि मुझे मरने की ज़रूरत नहीं। मैं इसी जन्म में मिथ बन जाऊंगा···मिथ बन जाऊंगा···मैं सकूंगा—सकूंगा—सकूंगा !

राजधानी मेरे पैरों के नीचे बिछी है। वसन्त के बाद दिनों में आ जाने वाली गर्मी रात के आगमन के साथ कैसी खुनक हो गई है। राजधानी के ऊपर यों निर्बन्ध उड़ना कितना अच्छा लगता है—मेरे सेंसुअल होंठों पर इस वक़्त ज़रूर भीनी मुस्कान होगी। वही मुस्कान, जिसके सामने मेरे बड़े से बड़े विरोधी परास्त हो जाते हैं, जिसे आईने में देखकर मैं स्वयं अपने

ऊपर मुग्ध हो जाता हूं, जिसकी लौ पर न जाने कितनी तन्वियों को मैंने पतंगों की तरह जलाया है, जिसमें मेरा सारा आभिजात्य अपनी मन-मोहक भव्यता के साथ सिमट आता है !···जब यह मुस्कान मेरे होंठों पर खेलती है, तब मैं किसीके लिए कुछ भी कर सकता हूं।—ये मेरे इर्द-गिर्द इकट्ठे होने वाले मरकहे सांड़ इसके आगे कैसे निरीह बछेरे बन जाते हैं और मैं इसीके द्वारा जैसे उनके पुट्ठे थपथपा देता हूं।···नीचे पार्कों में कचनार फूल आया है। कुछ ही दिनों में गुलमौर के छतनार पेड़ अपने लाल गुंचों और जेकारेंडा के गाछ अपने बैंगनी मेघों से दोपहरियों का ताप हर लेंगे। यह अमलतास न जाने क्यों दिल्ली में इतना नजर नहीं आता। इलाहाबाद की लू-भरी दोपहरियों में इसकी लम्बी पीली लटकती झालरें कैसे आंखों की थकन मिटाती हैं। मैं जब भी गुलमौर की याद करता हूं, मेरी आंखों में आसाम के जंगलों का 'कृष्ण सुरा' घूम जाता है—वह पेड़ जो एकदम गुलमौर जैसा लगता है, केवल यही अंतर है कि लाल के बदले उसकी डालियां गुलाबी गुच्छों से भरी रहती हैं। कैसा प्यारा-सा नाम है—कृष्ण सुरा !···शिलांग जाते हुए सुष्मी ने कैसे मुझे विवश कर दिया था कि मैं कार रोककर कृष्ण सुरा की एक गुच्छों-भरी डाल उसे लाकर दूं···सुष्मी···सुषमा निखलसेन··· मैंने यही मुस्कान होंठों पर लाकर कहा था—'सुष्मी, तुम तो स्वयं कृष्ण सुरा की डाल हो'···और वह कैसे प्यार से मेरी गोद में लुढ़क आई थी।···लेकिन मुझे कचनार इनसे भी प्रिय है। मुझे उसका सफेदी-मायल गुलाबीपन बहुत भाता है।···कचनार की कच्ची कलियों की तरकारी का स्वाद सहसा मेरी जीभ पर आ जाता है···मैं खुले हवादार किचन में एक पटरे पर बैठा हूं। लगातार बैठने से पटरा बेतरह मुलायम हो गया है। सामने श्वेत संगमरमर की चौकी पर चांदी की थाली में मां कचनार की तरकारी दे रही है।···मेरी मां का बूटा-सा कद, तीखा नाक-नक्शा, गोरा-चिट्टा रंग मेरे सामने है। न जाने कितनी यन्त्रणा मैंने उसके हाथों पाई और कितनी उसे दी है !···लेकिन मैं उसपर नहीं, अपने पिता पर गया हूं। मेरा यह लम्बा कद, मेरा यह चौड़ा माथा, मेरे ये सेंसुअल होंठ, मेरे शरीर के घने काले बाल, जिनसे अपने गाल रगड़ना, न जाने कितनी

तन्वियों की आकांक्षा रही है—ये सब मेरे पिता का है।···मां का न जाने मेरे यहां क्या है? शायद पेटीनेस, टुच्चापन—निम्न मध्यवर्ग का टुच्चापन—जो मेरे अभिजात-अहं के साथ मिलकर एकदम क्षुद्रता-सा लगता है।···कोई ऐसा अतिथि मेरे यहां आ जाए, जिसे मैं पसन्द न करता होऊं तो मैं उससे घण्टों-दिनों बात नहीं करता। डाइनिंग टेबल पर रखी फलों की प्लेट से सेब या संगतरा लेकर छील-छीलकर खाता हूं और उसे नहीं पूछता और मेरे व्यवहार के कारण मेज़ पर पड़े फलों को उठाने का साहस मेहमान को नहीं होता। मेरे इस व्यवहार से मेहमान का ध्यान फलों की ओर चला जाता है। उसकी आकृति पर अजीब-सा तनाव आ जाता है। यह देखकर न जाने मेरे मन में बैठा कौन यन्त्रणा-प्रिय तृप्त होता है। जितने दिन वह अतिथि रहता है, मैं भरपूर यह तृप्ति पाता हूं। यह तृप्ति मेरी मां की है।···डाइनिंग टेबल पर बैठे कोई भी अप्रिय बात मेरे माथे पर बड़ा क्षीण-सा तेवर ले आती है।···हम खाना खा रहे हों और गेलरी में केवल एक अंगोछा बांधे पसीने से लथपथ माली बाग़ में काम करता-करता किसी आगंतुक की खबर देने आ जाए तो मां के चेहरे पर ऐसा ही बड़ा हल्का-सा तेवर बन जाता था। लेकिन पिता का चौड़ा मस्तक और भी खिल जाता था। पिता का आभिजात्य स्वाभाविक था। मां का ऊपरी। सायास बटोरा हुआ। इसीलिए खोखला और टुच्चा! मां ऐसे में माली को डांट देती थी। पिता बड़े धीरज से, मुस्कराते हुए उसे आगंतुक को बैठाने का आदेश देते थे।···मैं मुस्करा नहीं सकता। मैं डांट भी नहीं सकता। बस एक क्षीण-सा तेवर माथे पर ले आता हूं। डांटने अथवा चिल्लाने जैसा फूहड़ व्यवहार मेरे आभिजात्य को रुचिकर नहीं··· लेकिन मेरे सारे प्रयत्नों के बावजूद कभी-कभी मेरी मां मुझपर हावी हो जाती है और अपने आभिजात्य के सारे पर्दों को चीरकर मैं चिल्ला उठता हूं।···मैं कार रेस्तरां के सामने पार्क करना चाहता हूं। आगे एक फ़ोर-सीटर स्कूटर वाला सिक्ख, स्कूटर रोके, उसमें लेटा हुआ है। मैं बार-बार भौंपू बजाता हूं। वह स्कूटर में लेटे-लेटे बेपरवाही से कहता है 'औधर पार्क कर लओ जी।' और मेरा संयम टूट जाता है और मैं दांत भींचकर चिल्लाता हूं—'आप आगे से हटें तो!' मेरी आवाज़ में, दांत भिंचे होने के बावजूद, न जाने कैसी

कर्कशता है कि दूसरे क्षण सिक्ख पलटकर देखता है, उठता है और स्कूटर घर्र-घर्र कर सरक जाता है।···पिता अफ़सरों के सामने कभी दयनीय नहीं हुए। उनके झुकने में भी एक गरिमा रहती थी। वे अफ़सरों का स्वागत करते थे तो लगता था, जैसे एक सम्राट दूसरे सम्राट का स्वागत करता है। वे उनके साथ घूमते थे तो लगता—एक सम्राट दूसरे सम्राट के साथ घूम रहा है। इसीलिए अंग्रेज़ अफ़सर उन्हें पसन्द करते थे। उनकी क़द्र करते थे। लेकिन मेरी मां अपने सारे कर्रो-फ़र के बावजूद, अंग्रेज़ अफ़सरों की बीवियों के सामने बिछ-बिछ जाती थी। उसके होंठ अपने-आप ख़ुशामद में फैल जाते थे।···मैंने सदा अपने पिता की तरह बनने की कोशिश की, पर सुष्पी जब आसाम में मुझे छोड़कर आ गई और उससे किसीने पूछा कि प्रशान्त पहली ही भेंट में तुम्हें ऐसे लखनऊ से उठाकर अपने साथ आसाम ले गए थे, जैसे तेज़ तूफ़ान छोटी-सी पपोली को, फिर तुम इतनी जल्दी क्यों उन्हें छोड़कर आ गई? तो उसने कहा था—'प्र० जी अपने अधीनस्थ लोगों से अत्यन्त बुरा व्यवहार करते थे और अपने अफ़सरों की बेतरह चापलूसी, और मुझे वह सब बहुत बुरा लगता और मैं भाग आई।'··· दया सोनवलकर ने सुष्पी के टुच्चेपन के संदर्भ में यह बात बम्बई में मुझसे कही थी।···यह चापलूसी मेरी मां की है···मैं अपनी मां से घृणा करता हूं। मैं अपने पिता-सा बनना चाहता हूं, पर मेरी मां के चेहरे पर आने वाले ख़ुशामदी भाव अजाने मेरे चेहरे पर भी आ जाते हैं। मैं अपनी मां से घृणा करता हूं, अपने रक्त की इस संकरता से घृणा करता हूं···घृणा करता हूं···घृणा करता हूं···मां जो न पा सकती थी, उससे घृणा करने लगती थी। मैं भी ऐसा ही करता हूं। मैं मां को कितना चाहता था। पिता की तरह चाहता था। पर जब उसी मां ने मेरे किशोर गालों पर थप्पड़ दे मारा तो मैं अपने-आपमें सिमट गया। सिमट गया। सिमटता चला गया। और मां से घृणा करने लगा। मैं कभी उससे सीधे मुंह नहीं बोला। उसे चाहते हुए भी मैंने उसका अपमान किया। यन्त्रणा-भरा दुख दिया। दुख पाया और अपने एकान्त में उस सब अपमान और यन्त्रणा का बदला चुकाया···मेरे सामने श्वेत रक्त का सागर हिलोरें लेता है···(श्वेत रक्त यह नाम मैंने कहां पढ़ा है···श्वेत रक्त···महात्मा गांधी ने शायद इस

शब्द का प्रयोग किया है।) मैं देखता हूं, मैं श्वेत रक्त के उस सागर में डूब गया हूं। और जब किनारे पर लगा हूं तो मैंने पाया कि वह तो मेरा ही रक्त था, मेरी ही ऊर्जा थी और मैं अपाहज हो गया हूं। पंगु हो गया हूं। ज़िन्दगी-भर के लिए बेकार हो गया हूं। मां की उस उपेक्षा ने मुझे तबाह कर दिया! ···मेरे सामने सजी हुई सुहाग-सेज पर एक निर्वसना नारी की आकृति आती है। अतृप्त, अवाक्, अवसन्न! और मैं पर्दे के पीछे बाल नोच रहा हूं। ओ मां! तूने मुझे तबाह कर दिया। तबाह कर दिया! मैं तुझसे घृणा करता हूं···घृणा करता हूं···नारी मात्र से घृणा करता हूं। पुरुष में जो सुन्दर है, उसे वह असुन्दर बना देती है। उसे अपाहज और पंगु बना देती है···मैं नारियों को पतंगों की तरह आकर्षित करता हूं और उन्हें जला-जलाकर अपनी यन्त्रणा-प्रियता को तृप्त करता हूं। जो मैंने गंवा दिया, इस तरह उसके अभाव की पूर्ति करता हूं।···मेरे सामने अपना वह चित्र आता है, जो राजधानी के एक कलाकार फ़ोटोग्राफ़र ने पुरस्कार वितरणोत्सव के कुछ दिन पहले लिया था। मैं चाहता था—मेरे पिता की मुखाकृति पर रहनेवाला उदार भाव और मेरी विश्वविजयिनी मुस्कान मेरे होंठों पर आ जाए। पर ऐन वक़्त पर न जाने क्या हुआ, मुझे लगा, यों मुस्कराते हुए फ़ोटो खिचवाना मेरे गाम्भीर्य को, मेरी महानता को शोभा नहीं देता। ···और मेरे होंठ भिच गए, माथे पर वह हल्का-सा तेवर और होंठों के कोनों में वही नामालूम-सा विकुंचन आ गया—वही पेटीनेस, वही अन्तर के गुह्य स्तरों में छिपी क्षुद्रता—मैं घृणा करता हूं; घृणा करता हूं; घृणा करता हूं—निम्न मध्यवर्ग के समस्त टुच्चेपन और क्षुद्रता से घृणा करता हूं। मैं उससे ऊपर उठ जाना चाहता हूं। बहुत ऊपर उठ जाना चाहता हूं··· आसमानों को छू लेना चाहता हूं।···लेकिन मेरी मां मुझे फिर नीचे घसीट लाती है और वह हल्का-सा तेवर मेरे माथे पर आ जाता है और मेरी वह मुस्कान जाने कहां विलुप्त हो जाती है! ···मेरे सामने मेरे चाहने वाले आते हैं। सब उसी निम्न मध्यवर्ग के हैं। मैं उन सबसे घृणा करता हूं।··· उन्होंने मेरे उसी फ़ोटो की ढेरों प्रतिलिपियां कराके सभी प्रदेशों में अपने साथियों को भेजीं और न जाने मेरे होंठों के उस विकुंचन में कैसे मेरे हृदय में छिपी उदारता खोज निकाली—'प्र० जी, यह फ़ोटोग्राफ़र कमाल का

आर्टिस्ट है। आपके हृदय का औदार्य, जिसे आप लाख छिपाने का प्रयास करते हैं, इस कलाकार ने आपकी आकृति पर उभार दिया है।'···मेरे ही थान पर बंधा, मेरे मुंह-चढ़ा, खस्सी सांड़।···मैं अपनी वही विश्वविजयिनी मुस्कान होंठों पर ले आया हूं, पर मेरी आंखों में संदेह है कि वह मेरा मज़ाक तो नहीं उड़ा रहा···नहीं, वह तो मेरी ओर देख भी नहीं रहा। एक अजब-सी चियार में उसके होंठ फैले हैं।···अपनी पचासवीं वर्षगांठ पर, अपना परिचय देते हुए, मैंने अन्त में लिखा था कि और चाहे भगवान ने मुझे कुछ न दिया हो, पर दिल दरिया दिया है। मेरे उस आत्म-परिचय का उल्लेख कर वह मेरे उस अन्तिम वाक्य को बार-बार दोहरा रहा है कि आपने यह सच लिखा था।···मेरे इस औदार्य के क़िस्से साहित्य में धीरे-धीरे सरायत कर रहे हैं—कवि संजीव, जो अपने कस्बे की झोंपड़ी में फ़र्श पर सोते और अपने हाथ से खिचड़ी बनाकर गुज़ारा करते हुए स्वतन्त्र रूप से कविता करते थे, जिन्होंने प्रगतिवादी काव्य को प्रयोग दिया और जहां-तहां जिनके प्रशंसक दबी ज़बान से यह कहने लगे थे कि वे मुझसे बेहतर लिखते हैं; कि उन्होंने काव्य को सच्चे अर्थों में प्रयोग दिया है—वही कवि संजीव—मेरी दरियादिली और उदारता के गुण गाते नहीं अघाते!···मैं जब-जब उनके कस्बे से गुज़रा हूं, उनकी कुठरिया में ज़रूर गया हूं। गद्गद होकर वे लोगों से कहते हैं—'प्र० जी अपने क़ीमती वस्त्रों का ध्यान न कर मेरी कोठरी की खुर्री चौखट पे बैठ जाते थे।' वे मेरी दानशीलता और करुणा के क़िस्से भी सुनाते हैं कि किस प्रकार जब-जब उनपर मुसीबत पड़ी, मैंने उनकी सहायता की।···कवि संजीव एक बार मेरे यहां आए। रात को सोने से पहले मैं 'शुभ रात्रि' कहने उनके कमरे में गया। उनके बिस्तर पर तकिया नहीं था। मैंने झट अपना रेशमी तकिया लाकर उन्हें दे दिया।···यह घटना न जाने उन्होंने कहां-कहां नहीं सुनाई!···मैंने उनकी रचनाओं का संकलन किया, उन्हें भारत ही में नहीं, बाहर भी छपवाया; उन्हें क़स्बे के एकांत से राजधानी की चकाचौंध में ले आया और उन्हें बड़ी-सी नौकरी दिलवा दी और कवि संजीव, जो आभिजात्य से चिढ़ते थे, अब बड़े-बड़े अभिजात-वर्गीयों के कान काटते हैं···(इन सभी छद्म प्रगतिवादियों के अन्दर वही

पुराना पूंजीवादी छिपा है जो शोर मज़दूर का मचाता है, पर सुविधाएं अपने लिए चाहता है। मेरे सामने विदेशी दूतावासों में काम करने वाले कितने ही छद्म प्रगतिवादी घूम जाते हैं, जो मुझे पानी पी-पी कर कोसते थे और अब मज़दूर की बेकारी और किसान की ग़रीबी को भूलकर बढ़िया विलायती शराबों के जाम पर जाम चढ़ाते हैं और दिन-प्रतिदिन मुटाते जाते हैं)···मैं ऐसी दानशीलता और करुणा का बराबर परिचय दिया करता हूं। न जाने कितनों को इसी संवेदना के बल पर मैं उनकी ऊंचाइयों से खींच खड्डों में गिरा आया हूं। मेरी नाक कटी है तो उनकी क्यों साबत रहे···लेकिन कई बार मैं चाहता हूं—अपने पिता की तरह गणनाओं से मुक्त होकर किसीका घर भर दूं, शत्रुओं को शरण में पाकर क्षमा कर दूं, लेकिन मेरी मां पिता के इस औदार्य को पागलपन कहती थी। और मैं पागल नहीं हूं···लेकिन मैं पागल होना चाहता हूं। मैं पागल होना चाहता हूं···निर्बन्ध, अबाध, गणनाओं से परे।···लेकिन मेरी मां मुझे सदैव बांध लेती है। मेरी विशालता संकुचित कर देती है। मुझे बौना बना देती है··· मैं घृणा करता हूं·· घृणा करता हूं···घृणा करता हूं···

मेरे पैरों के नीचे ठोस सड़क है। कोलतार की ठोस काली सड़क है। राजधानी के ऊपर तैरता हुआ न जाने मैं कब इस संकुलता में उतर आया हूं। कितनी भीड़ है! कितनी बेपनाह भीड़ है! हल्की खुनकी के बावजूद पसीने की गंध है। धुआं है, धुंध है, धूल है!···(मेरी कार कहां है?)··· धूल है—हर तरफ़ धूल है। यह मरुस्थल कैसे हर क्षण राजधानी की ओर बढ़ा आ रहा है! यह मरुस्थल इसकी सारी मेधा, सारी शक्ति, सारी उर्वरता और ऊर्जा को सोख लेगा।···पूरब से, पश्चिम से, उत्तर से, दक्खिन से ढेरों मिट्टी आती है। हर वर्ष, हर मास, हर दिवस और राजधानी पर छा जाती है। कभी मैंने चाहा था, मैं प्रयाग के शान्त, स्वच्छ एकांत में रहकर साहित्य-साधना करूंगा। पर मैं स्वयं उस मिट्टी का एक नन्हा-सा कण बना उड़ा चला आया···अंतर केवल यही है कि मैं गद्देदार कुर्सी पर जम गया हूं···मैं रेत का कण नहीं बनना चाहता···मैं रेत का कण नहीं बनना चाहता। इसीलिए मैं उड़ता हूं, चिन्तन के अजाने आकाशों

में उड़ता हूं; राजधानी के ऊपर उड़ता हूं और सागरों और पहाड़ों पर उड़कर देश-विदेश घूम आता हूं···चाहता हूं, राजधानी में हर जगह घने छतनार बारह-मासी पेड़ लगा दिए जाएं। हरे-भरे पेड़ों की एक चौड़ी मेखला इसे पूरी तरह घेर ले। और इस मरुभूमि का चढ़ता सैलाब रुक जाए।···लेकिन जब चारों ओर धरती सूख रही है, मिट्टी रेत बन रही है तो ये पेड़ क्या करेंगे? यह घातक रेत उनपर जम जाएगी। उनपर जम जाएगी। उनकी हरियाली सोख लेगी। उनकी जड़ें खोखली कर देगी और यह बढ़ता मरु एक दिन उन्हें लील जाएगा।···मेरा दम घुटा जा रहा है; ···मेरा दम बेतरह घुटा जा रहा है।···सामने बन्द गली का बड़ा ऊंचा गुम्बदाकार दरवाज़ा है। उसपर बड़ा-सा ताला लगा है। मैं जेबें टटोलता हूं। जाने मेरी जेबें कितनी लम्बी हैं। मेरा हाथ नीचे—नीचे—नीचे चला जा रहा है। हठात् चाबी मेरे हाथ लग जातीहै। मैं जल्दी से ताला खोलता हूं। लोहे के दरवाज़े न जाने कब से बन्द हैं। ज़ोर से अपनी ओर खींचकर खोलता हूं! गली की सीढ़ियों पर मेरा युवा माली एक छोटी-सी गोरी लड़की के साथ बैठा गहरे आलाप में तल्लीन है। दरवाज़ा खुलने की आहट से दोनों चौंक जाते हैं। माली तत्काल उठ खड़ा होता है। घबराहट में अपने सिर के लम्बे पटों पर बराबर हाथ फेरे जाता है। उसकी आंखें झुकी हैं। लज्जा की एक क्षीण-सी मुस्कान उसके नथुनों और होंठों के बीच टिकी है।···लेकिन लड़की वैसे ही तनी बैठी है। सहसा उसकी सीधी दृष्टि से मेरी चोर दृष्टि मिलती है। लवणी। लावण्य प्रभा। मेरी आसामी नौकरानी! उसका वक्ष उभर आया है। कटि की रेखा सुनिश्चित हो गई है।···जब मैं असम में था और वह छोटी-सी, बारह वर्ष की छोकरी थी और दस ही वर्ष की लगती थी और फ़रॉक पहनती थी और अपनी मां के साथ घर की सफ़ाई-उफ़ाई करने आती थी; तब कैसे मुग्ध भाव से अपलक मेरी ओर देखा करती थी! आंखें मिलते ही बड़े प्यारे ढंग से मुस्करा देती थी। उसके मोटे मंगोल होंठ ऐसी मीठी मुस्कान में खुल जाते कि मोतिया दन्तावली एक अजीब-से तिकोन में चमक जाती। जब बहुत दिन तक वह ऐसे ही मुस्कराती रही और मैंने कभी उसे पास नहीं बुलाया तो एक दिन वह मेरी मेज़ के पास आ खड़ी हुई और दाईं ओर बग़ल के ज़रा नीचे यों

ही-सा संकेत करके कहने लगी—'यहां दुखता है।'···मेरा ध्यान काम में था। मैंने बिना मेज़ से आंखें हटाए पूछा—'कहां ?' और उसने फ़रॉक ऊपर उठा दिया।···मेरे सामने छोटा-सा निरावरण अर्ध वक्षोज आ जाता है। गोरा, मुलायम, कोमल! भूरा-भूरा कुचाग्र और उसमें रेशमी सुनहरे रोम। मैं बेध्यानी में उसपर हाथ फेर देता हूं। लवणी अपनी वही मोतिया तिकोन चमकाती, सकुचाती दोहरी हो जाती है।···'कहां दुखता है तुम्हारे ?' मैं झेंपता हुआ तत्परता से डांटता हूं। 'यहां तो कुछ नहीं।···' वह गम्भीर होकर फिर फ़रॉक उठा देती है और ज़रा-सा मुड़ जाती है। बग़ल की हल्की-सी रेशमी धुंध के नीचे एक लाल-सी खरोंच। मैं उसपर हाथ फेरता हूं। मेरा हाथ अनायास उस सुकोमल वक्षोज तक बढ़ जाता है।···तभी लवणी तनिक सिर झुकाकर कनखियों से मेरी ओर देखती है। जाने उन आंखों में कैसा समर्पण-सा है कि मुझे कुछ अस्वस्ति-बोध होता है। सुन्दर असुन्दर होने लगता है। निमिष-भर को मैं उसे खींचकर अपनी बांहों में भरकर उस भूरे प्यारे कुचाग्र पर अपने होंठ रख देना चाहता हूं, पर अपनी यह पराजय मुझे स्वीकार नहीं।···'कुछ नहीं है। कहीं खाज करते नाखून लग गया है, भाग जा।' कहता हुआ, मैं उठ जाता हूं और स्नानागार में भाग जाता हूं।···दूसरे ही दिन मैं उसका अपने यहां आना मना कर देता हूं।···लवणी सीढ़ियों पर उसी तरह बैठी है। उद्धत, उद्दण्ड, अपलक मेरी ओर देख रही है।···मेरी चोर निगाहें उसपर टिकी हैं। मुझे लगता है, यह क्षण इसी तरह सदा-सदा के लिए थम जाएगा। लेकिन मैं दृष्टि हटा लेता हूं।···उसकी दृष्टि की उद्धतता को मैं सहन नहीं कर पाता। न यही सहन कर पाता हूं कि वह मेरी ओर देखने के बदले मेरे माली की ओर मुग्ध भाव से देखे, उससे प्रेमालाप करे···मैं माली को अपने पीछे आने का संकेत देता हूं और गली की सीढ़ियां उतरता हूं। लवणी वहां से उड़कर मेरी आंखों के सामने, उसी तरह उद्धत, उद्दण्ड मुद्रा में बैठी, शून्य में अटक जाती है। जैसे-जैसे मैं आगे बढ़ता हूं, वह उतने ही अंतर पर पीछे हटती जाती है।···तीव्र क्रोध से भरकर मैं रुकता हूं। मुड़ता हूं। बग़ल की कोठरी का दरवाज़ा खोलता हूं और अन्दर जा कर उसे बन्द कर लेता हूं।···सामने मेरा सूटकेस पड़ा है। मैं उसे खोलता हूं। बाफ़्ते की

मंजूषा उठाता हूं। मुझे वह लवणी के वक्षोज-सी सुकोमल लगती है। मैं प्यार से उसपर हाथ फेरता हूं। उसे खोलता हूं। ऊपर ही पांच हज़ार का चेक पड़ा है। क्षण-भर मैं उसे देखता हूं।···प्रशांत वैशम्पायन।···देसराज शर्मा। माता-पिता द्वारा दिए गए मेरे नाम से यह कितना सुन्दर है? वे माता-पिता नाम रखते समय भविष्य में क्यों नहीं झांकते? क्यों इतनी अन्यमनस्कता से नाम रख देते हैं?···देसराज शर्मा···किसी कवि-कथाकार का भला यह नाम हो सकता है? मैंने अच्छा किया जो अपना नाम प्रशांत रख लिया। प्रशांत महासागर-सा गहन, गम्भीर, विशाल और शांत।···मैं चेक के नीचे तांबे की पट्टिका पर लिखे शब्द 'साहित्य' को देखता हूं। साहित्य! दिन आएगा जब साहित्य का नाम मेरे नाम का पर्याय हो जाएगा।···चेक को वहीं रखकर मैं मंजूषा बन्द करता हूं। उसे सूटकेस में यथास्थान रख कर सूटकेस बन्द करके मुड़ता हूं। मुझे लगता है कि लवणी दरवाज़े में खड़ी ज़रूर मुग्ध भाव से मेरी ओर देख रही होगी··· मैं भूल ही गया था कि मैंने उसीके भय से दरवाज़ा बन्द कर लिया था।··· सहसा मैं धक् से रह जाता हूं···कोठरी का दरवाज़ा खुला है और चौखट में एक शराबी गुण्डा दोनों बांहें फैलाए पूरी चौखट को रोके खड़ा है। उसके सिर के खिचड़ी बाल बेतरतीब हैं। खिचड़ी मूंछें कानों तक फैली हैं। शरीर पर छोटे कालरों की लकीरदार कमीज़ और कमर में रंगीन लुंगी है। कमीज़ का गिरेबान खुला है और छातीके रूखे खिचड़ी बाल चारों ओर से झांक रहे हैं। उसकी आंखें लाल हैं और होंठों के कोनों से पान की पीक बह रही है। हवा के झोंके के साथ शराब की बू का भभका आता है।···गुण्डा सूटकेस की ओर लोलुप दृष्टि से देख रहा है। मैं चाहता हूं, अपना संतुलन कायम रखूं। ऐसा वर्ताव करूं, जैसे मैं अपने यहां मिलने को आने वाले किसी अपरिचित से करता हूं। या अपनी वही विश्वविजयिनी मुस्कान अपने होंठों पर ले आऊं। लेकिन दोनों में से कुछ भी नहीं हो पाता। मैं स्तम्भित-सा बैठा रहता हूं। मेरा दिल जोर-जोर से धड़कने लगता है। लाख चाहने पर वह हल्का-सा तेवर भी मेरे माथे पर नहीं आता। गुण्डा दायां हाथ आगे बढ़ाता है और उंगलियों को ऊपर-नीचे हिलाता हुआ संकेत करता है कि लाओ-लाओ चाबी दो! मेरी कोज की पट्टिका···साहित्य···

जिसे पाने के लिए मैंने तीन वर्ष तक इतने तिकड़म किए। मैं कुछ अजीब खिसियानेपन से हंसता हूं। बुदबुदाता हूं—'इसमें कुछ नहीं है।'···गुण्डा उत्तर नहीं देता। केवल बढ़े हुए हाथ की उंगलियों का अग्रभाग हिलाता है कि लाओ-लाओ! ···सहसा मुझे उपाय सूझ जाता है। मैं चाबी उसके बढ़े हाथ पर फेंक देता हूं और परम निरपेक्षता से कहता हूं—'खोल कर देख लो, इसमें कुछ नहीं है!'···मेरा ब्लफ़ काम कर जाता है। शराबी बेपरवाही से उंगलियों के अग्रभाग पर पड़ी चाबी को ठप्पा लगाने की तरह बायें हाथ हथेली पर मारता है और दायें हाथ की उंगलियों से उसे दबा देता है। फिर वह चाबी मेरी तरफ़ उछाल देता है और कोठरी के बाहर निकल जाता है।···मैं दोनों हाथों से चाबी लोक लेता हूं, फिर सूटकेस खोलता हूं और बाफ़्ते की वह मंजूषा देखकर आश्वस्त होता हूं।···तभी माली बढ़कर माथे पर कई तेवर बनाए, दोनों भ्रुओं को मिलाए कहता है—'सा'ब आपने यह क्या कर दिया। उसने चाबी का ठप्पा ले लिया है। वह उसकी दूसरी चाबी बना लेगा। ये लोग ऐसा ही करते हैं।'···और मैं उठ भागता हूं। अंधाधुंध गली में भागता चला जाता हूं। और उसे जा पकड़ता हूं।···एक लम्बा-सा दालान है। उसके परे आंगन और खुला आसमान है। वहीं छोटे-से बौने-सा उसका सिलहूत दिखाई देता है।··· 'तुम चाबी का ठप्पा बना लाए हो।—तुम नहीं जानते मैं कौन हूं! राष्ट्रपति···(मैं कहना चाहता हूं कि राष्ट्रपति मेरे मित्र हैं, प्रशंसक हैं, मेरी रचनाओं के अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने पढ़े हैं। पर तभी मुझे याद आता है कि पुरस्कार देते हुए उन्होंने मेरी ओर देखा भी नहीं, मुस्कराए तक नहीं···नहीं मैं राष्ट्रपति का नाम नहीं लूंगा और मैं कहता हूं···) प्रधान मंत्री मेरे मित्र और प्रशंसक हैं, मैं ज़रा संकेत कर दूं तो वे तुम्हें डी० आई० आर० में पकड़कर जेल में बन्द करवा देंगे और किसी अदालत में सुनवाई भी नहीं होगी'···यह कहते-कहते मेरा आकार एकदम बढ़ जाता है। सीना तिगुना-चौगुना हो जाता है और सिर छत को छूने लगता है।

लेकिन मैं वाक्य पूरा भी नहीं कर पाता कि वह पतला, दुबला, बौना सिलहूत सहसा बढ़ने लगता है और मेरा वाक्य समाप्त होते न होते देवाकार बनकर, ब्रह्माण्ड नापने वाले वामनावतार की तरह नपे-तुले तीन पगों

में, बीच का फ़ासिला नापकर मेरे सिर पर आ पहुंचता है।...मेरा वाक्य मेरे होंठों पर जम जाता है। मेरा कद एकदम छोटा हो जाता है। मुझे लगता है मेरे सेंसुअल होंठ मेरी मां के हो गए हैं और उनपर चाटुकारिता-भरी चियार फैल रही है।...मैं नज़र उठाता हूं। वह देवाकार आकृति मुझे आचार्य जी ऐसी लगती है।...मैं चाहता हूं, मेरे माथे पर वही हल्का-सा तेवर बन जाए...सहसा देव मुझे कलाई से पकड़कर घुमा देता है। अपना फ़ौलादी पंजा मेरी गुद्दी पर जमाकर उसे झुका देता है और पूरे ज़ोर से मेरे चूतड़ों पर एक लात जमा देता है...मैं कलाबाज़ी खाता शून्य को चीरता हुआ उड़ता हूं। दीवार रास्ता दे देती है। गली नीचे रह जाती है। आंधी की लपेट में आए तृण-सा मैं उड़ा जा रहा हूं...हठात् मेरा रोम-रोम कांप जाता है। मुझे लगता है, मैं आकाश से गिर रहा हूं। टूटने वाले तारे-सा, तेज़ी से नीचे राजधानी की ओर गिर रहा हूं। सांझ के धुंधियाले में राजधानी का खाका उभरता है। बत्तियां चमकती हैं। घूमती हैं। नीचे जनपथ की पथरीली काली सड़क चमकती है। मुझे लगता है, अगले क्षण मैं ऐन जनपथ के बीच गिरकर चूर-चूर हो जाऊंगा...मेरी मां ज़ोर से चीख मारती है...मुझे ज़ोर से भींच लेती है!...

मेरी आंखें खुल जाती हैं। मुझे सांस लेने में बेहद कष्ट हो रहा है। मेरा वदन पसीने से तर है। सविता मुझे बांहों में भरे मुझपर झुकी है...मेरे चौड़े माथे और बढ़ते हुए गंजेपन के कारण, हल्के हो जाने वाले पसीने से गच बालों पर हाथ फेरे जा रही है। और उसके चिन्तित होंठ बार-बार फुसफुसा रहे हैं—'प्र० जी,'...'प्र० जी!'...'क्या मैं चीखा था?'—मैं पूछना चाहता हूं—'क्या मैं चीखा था?'...लेकिन मैं नहीं पूछता...'प्र० जी'...'प्र० जी'—सविता फुसफुसाए जा रही है।...सहसा गोद में पड़े समाचारपत्र की सुर्खी पर मेरी दृष्टि पड़ती है—दिल के दौरे से श्री—'यहां सीने में दर्द है,' मैं दिल पर हाथ रखता हूं। 'सांस सेने में बड़ा कष्ट हो रहा है।'...'मैं अभी डाक्टर को बुलाती हूं।' सविता कहती है और मेरी गोद से तकिया उठाकर मेरे सिर के नीचे रख, मुझे ठीक से लिटा देती है।...टेलीफ़ोन पर सविता की घबराई आवाज़ आती है—'आप तत्काल आइए।

प्र० जी को शायद दिल का दौरा पड़ गया है। उन्हें सांस लेने में तकलीफ़ है।'…आराम से लेट जाने पर मुझे कुछ आराम मिलता है। शायद मैं समाचारपत्र में आचार्य जी का भाषण पढ़ते-पढ़ते ऊंघ गया था…मैं कुछ आश्वस्त होता हूं। सविता टेलीफ़ोन का चोंगा रखकर लौटती है— 'प्र० जी, कैसी तबियत है ?'…सविता आंखों में अपार स्नेह और श्रद्धा और चिन्ता लिए खड़ी है।…मैं उसे नहीं बताऊंगा। मैं उसे कुछ भी नहीं बताऊंगा। मैं पत्र में अपने माइल्डहार्ट अटैक की ख़बर छपने दूंगा। मैं सप्ताह-भर किसीसे नहीं मिलूंगा। प्र०—प्रशान्त—मैंने अपने चेहरे को, अपने व्यक्तित्व को प्रशान्त महासागर-सा बनाने का प्रयत्न किया है— अगाध, स्थिर, प्रशान्त ! …पर मेरे अन्तर में ये कैसे तूफ़ान उठते हैं ! मुझे अपना नाम अतलांतक महासागर के नाम पर रखना चाहिए था। पर अतलांतक के लिए हिन्दी में कोई अच्छा पर्याय नहीं है।…

१९६६

कैप्टन रशीद

"मैं हनीफ़ के बारे में कह रही थी, अपनी इस नई स्कीम में उसे क्यों नहीं ले लेते ?"

कैप्टन रशीद अपनी ट्यूनक के बटन बन्द करते हुए अपने स्वभावानुसार कमरे में चक्कर लगा रहे थे। उनका मस्तिष्क अपने अख़बार की कायापलट करने में निमग्न था। कल्पना ही कल्पना में उन्होंने नये, योग्य और अनुभवी सम्पादक चुन लिए थे। प्रेस को नया टाइप ढालने और हेड आफ़िस को बेहतर कागज़ सप्लाई करने पर विवश कर दिया था। अखबार सुन्दर टाइप में, सुन्दर कागज़ पर छपने लगा था। उसमें चित्रों के पृष्ठ बढ़ गए थे। उसके सम्पादन में अब आकाश-पाताल का अन्तर आ गया था और सैनिकों के लिए वह पहले से कहीं अधिक उपयोगी हो गया था। तन्द्रावस्था में कानों के पर्दों से टकराने वाली अस्पष्ट ध्वनियों की भांति उनकी पत्नी के ये शब्द उनके कान में पड़े। उनकी भवें तन गईं और कुछ मुड़कर आश्चर्य-मिश्रित क्रोध से उन्होंने अपनी पत्नी की ओर देखा।

वह बिस्तर पर बैठी चाय बना रही थी। कैप्टन रशीद सुबह नौ बजे के बदले सदैव पौने नौ बजे दफ़्तर पहुंच जाना चाहते थे। अफ़सर थे और उनका ख़्याल था कि अफ़सरों को क्लर्कों से पन्द्रह मिनट पहले अपनी सीट पर होना चाहिए। वे सवा आठ बजे तैयार हो जाते। उन्हें अलार्म लगाकर सुबह उठना पड़ता और उनकी बेगम सोने के कमरे ही में चाय लाने का आर्डर दे देती। —प्याले में चीनी डालते हुए बेगम के होंठों पर शिशिर

की संकोचशील अरुणाभा की-सी मुस्कान फैली और मुख पर प्रार्थना-जनित लाली दौड़ गई। कनखियों से अपने पति की ओर देखते हुए, प्याले को चम्मच से हिलाते-हिलाते उसने फिर वही प्रार्थना दोहरानी शुरू की।

"मैं हनीफ़ के बारे में कह रही थी···"

"तुम बेवकूफ़ हो !" कैप्टन रशीद ने असन्तोष से कहा, भवें सिकोड़ीं, मुंह बिगाड़ा, चाय का प्याला उठाया और फिर कमरे में चक्कर लगाने लगे।

उनकी बेगम चुपचाप उन्हें प्याला उठाए दीवार की ओर जाते देखती रही। उसकी दृष्टि अपने इस कप्तान पति के गंजे होते हुए सिर, सिर के पिछले, ज़रूरत से ज़्यादा उभरे हुए भाग, पतली-सी गर्दन और ढालवें कन्धों से पीठ और सिकुड़े हुए कूल्हों पर फिसलती उसके पावों पर आ टिकी। उसने देखा—उसके पति की चाल में भारी अन्तर आ गया है। उसी दिन क्यों, जब से कैप्टन रशीद इस नये पद पर नियुक्त हुए थे, बेगम रशीद ने इस अंतर को देखा था। उनकी पतली-सी गर्दन अब इस प्रकार अकड़ी रहती थी मानो उसका पट्ठा चढ़ गया हो। चलते समय वे प्रायः अपनी एड़ियां उठा लेते थे और दीवार के पास पहुंचकर जब मुड़ते थे तो एक विचित्र गर्व और महत्त्व की अनुभूति से पंजों पर लट्टू की तरह घूम जाते थे।

कैप्टन रशीद की चाल ही नहीं, उनके स्वभाव तक में अन्तर आ गया था। उनकी दृष्टि, जो पहले एक विचित्र विवशता से पीड़ित, आकुल, उदास और झुकी-झुकी-सी रहती थी, अब कुछ ऐसी तीव्र हो गई थी मानो अपने समक्ष किसी दूसरे को कुछ भी न समझती हो। बातचीत करते समय प्रायः दूसरे को मूर्ख समझकर वे एक विचित्र व्यंग्य से मुस्करा देते थे या अत्यन्त उपेक्षा से ओठ सिकोड़ लेते थे।

कुछ क्षण बेगम रशीद अपने पति को प्याले से चुस्की लेते और घूमते देखती रही। अपनी ख़ाला के दामाद और अपनी सहेलियों-सी बहिन के पति को अपनी नई स्कीम में लेने की प्रार्थना पर उसके पति ने बे-मांगे जो उपाधि उसे दे दी थी, उसपर उसे क्रोध नहीं आया। कैप्टन रशीद ने पहले-

पहल जब वर्दी पहनी थी तो उसके दोनों जेठ उन्हें देखकर हंसा करते। बड़े जेठ एक विचित्र व्यंग्यमयी मुस्कान से कहा करते, "भाई, कैसे-कैसे जवां-मर्द फ़ौज में भर्ती हो रहे हैं आजकल ?" और छोटे उन्हें देखते ही यह शेर गुनगुनाना शुरू कर देते :

तस्वीर मेरी देखकर कहने लगा वह शोख़,
यह कारटून अच्छा है अख़बार के लिए।

और जेठानियां यह सुनकर हंसी को रोकने के लिए मुंह में दुपट्टे ठूंस लेतीं और वह स्वयं लज्जा के मारे सिर झुका लेती। यही कारण था कि अब अपने पति की सफलता, उसकी तनी हुई गर्दन, उसका भ्रू-भंग और उसकी तुनक-मिज़ाजी देखकर उसे एक प्रकार का सन्तोष ही होता। उसे अच्छी तरह मालूम था कि अब उसका छोटा जेठ अपना शेर भूल गया है और बड़े जेठ को भी अपने इस तिनके-से भाई की सफलता को देखकर शर्म आने लगी है—आख़िर उसके पति ने अपनी योग्यता का सिक्का जमा दिया था ! उसने जो कहा था, कर दिखाया था। अपने खानबहादुर पिता की सिफ़ारिश के बिना, केवल अपने परिश्रम, योग्यता और दयानतदारी के बल पर कैप्टन बना और इस नये पद के लिए चुना गया, उसके कानों में अपने पति के वे शब्द गूंज जाते जो उसने अपनी नियुक्ति के समय कहे थे, 'मैं ही अकेला हिन्दुस्तानी हूं जिसे इस आसामी के लिए चुना गया है, नहीं आधी सदी हो गई इस अखबार को निकलते हुए, कभी कोई हिन्दुस्तानी इसका एडीटर नहीं बना।'

उनकी बेगम ने गर्व से अपने पति की ओर देखा। कैप्टन रशीद ने प्याला ख़त्म करके तिपाई पर रख दिया था और बिस्कुट दांतों में लिए घूमने लगे थे। प्याले की बची हुई चाय खाली प्लेट में उंडेलते हुए बेगम रशीद ने फिर घुमा-फिराकर हनीफ़ की बात चलाई :

"आपा शमीम चाहे हमारी ज़रा दूर की रिश्तेदार होती हैं," उसने कहा, "पर आप जानते हैं, मैं उन्हें कितना मानती हूं। हम दोनों में बहनों से ज़्यादा मुहब्बत रही है।"

वह क्षण भर के लिए रुकी। कैप्टन रशीद पूर्ववत् घूमते रहे। बेगम ने फिर कहा :

"ख़ाला शमीम के बारे में परेशान हैं। चार बरस उसकी शादी को हो गए। घर में दो-दो बच्चे हैं लेकिन भाई हनीफ़ को अभी तक कोई अच्छी नौकरी ही नहीं मिली।"

वह फिर निमिष-भर के लिए रुकी। उसने दूसरे प्याले में चाय ढाली। कैप्टन रशीद निरन्तर घूमते रहे। उनकी भवें तन गई, जिससे उनके मस्तक पर नाक की सीध में एक आड़ी लकीर बन गई, चलते समय पैरों पर उनके शरीर का बोझ बढ़ने लगा। बेगम ने अपनी बात जारी रखी :

"इस महंगाई के ज़माने में साठ रुपये से तो एक आदमी की रोटी भी नहीं चलती," उसने लम्बी सांस भरी, "फिर आपा शमीम के दो-दो बच्चे, सास और ससुर हैं।"

वह प्याले में चीनी हिलाने लगी। कैप्टन रशीद ने अब भी उत्तर न दिया। उनके ओठ बिगड़ने लगे और दृष्टि में उपेक्षा की लकीर और भी स्पष्ट हो चली, किन्तु एक तो उनका मुख अपनी बेगम की ओर न था, दूसरे वह चीनी हिलाने में निमग्न थी। इसलिए उसकी बात का जो प्रभाव उसके पति की आकृति पर हो रहा था, उसकी ओर ध्यान दिए बिना प्याले में चम्मच हिलाते-हिलाते बेगम अपनी बात कहती रही :

"जिनको अंग्रेज़ी की ए-बी-सी तक नहीं आती वे तो आजकल दो-दो सौ रुपया पा रहे हैं। हनीफ़ भाई तो बी० ए० आनर्स हैं, लेकिन वे लोग ग़रीब हैं और सिफ़ारिश उनकी..."

अब कैप्टन रशीद के लिए अपने-आपको रोकना कठिन हो गया—'ओ बेवकूफ़ औरत!' उन्होंने दिल ही दिल में तिलमिलाते हुए कहा, 'क्या मैंने किसीकी सिफ़ारिश से यह नौकरी हासिल की है? मेहनत, लियाक़त और दयानतदारी—दुनिया में यही कामयाबी की कुंजी हैं। मैंने यह स्कीम हनीफ़ जैसे मूर्ख, निकम्मे, कामचोर और नाक़ाबिल आदमियों के लिए नहीं बनाई। मुझे तजरुबेकार, मेहनती और खुद Initiative लेने वाले जर्नलिस्ट चाहिएं।'—लेकिन अपने हमज़ुल्फ़[1] की शान में प्रकट उन्होंने कुछ नहीं कहा। उपेक्षा-मिश्रित दया से भरी एक दृष्टि उन्होंने

१. साली का पति

अपनी इस वज्र-मूर्ख पत्नी पर डाली। घड़ी में समय देखा। आठ हो गए थे। "मुझे जर्नलिस्टों की ज़रूरत है, क्लर्कों की नहीं!" सिर्फ़ इतना कह-कर दूसरा प्याला पिए बिना ही बाहर निकल गए।

उनकी पत्नी निराशा से वहीं की वहीं बैठी रही। यद्यपि चीनी कब की हल हो गई थी, पर वह विफल उसमें चम्मच हिलाती रही।

कैप्टन रशीद अपने मिलिट्री काण्ट्रैक्टर (ख़ानबहादुर) बाप के तीसरे और सबसे छोटे पुत्र थे। अपने दोनों भाइयों की अपेक्षा वे कृश-काय थे, किन्तु उनका मस्तिष्क अपने भाइयों के मुक़ाबिले में बड़ी तेज़ी से काम करता था। खेल-कूद में पिछड़ जाने पर भी वे इन दोनों 'बैलों' को (उपेक्षा से दिल ही दिल में वे उन्हें हराम का माल खा-खाकर पले हुए बैल कहा करते थे।) कहीं पीछे छोड़ देने के स्वप्न देखा करते थे। यही कारण था कि जब उनके दोनों भाई उचित या अनुचित ढंग से कमाई हुई अपने पिता की सम्पत्ति को उचित या अनुचित ढंग से ठिकाने लगाने में निमग्न थे, कैप्टन रशीद जी-जान से शिक्षा-प्राप्ति में रत थे। कॉलेज की शिक्षा समाप्त करके उन्होंने पत्रकार-कला की शिक्षा ली थी और अभी मुश्किल से उन्होंने जर्नलिज़्म का कोर्स पूरा किया था कि उन्हें कमीशन मिल गया। यद्यपि इस पद के लिए उनके निर्वाचन की तह में ख़ानबहादुर का रुसूख ही काम करता था, पर कैप्टन रशीद इसका कारण अपनी योग्यता ही समझते थे और उन्हें इस बात का सन्तोष था कि वे पूर्णतया इस पद के योग्य हैं।

यह साप्ताहिक पत्र, जिसके सम्पादक बनकर वे आए थे, उन अन-गिनत सैनिक पत्र-पत्रिकाओं की तरह न था जो द्वितीय महायुद्ध में बर-साती कुकरमुत्तों की भांति उग आए थे। चालीस-पचास वर्ष पहले अफ़ग़ा-निस्तान के क़बायली इलाक़े में लड़ने वाले सैनिकों के हितार्थ इसका सूत्र-पात्र किया गया था और उस समय, जब कैप्टन रशीद ने इसकी बागडोर अपने हाथ में संभाला, यह छः-सात भाषाओं में निकलता था।

साधारण समाचारपत्रों तक सैनिकों की पहुंच नहीं होती। घर से सहस्रों योजन दूर, जंगलों, पहाड़ों, वीरानों और रेगिस्तानों में उन्हें लड़ना

पड़ता है और यद्यपि उस समय भी उनके बेकार समय को खेल-तमाशों से भरने का भरसक प्रयत्न किया जाता था, फिर भी ऐसे मुख-पत्र की आवश्यकता अनुभव की गई जो उन, लगभग अपढ़, सिपाहियों की उन घड़ियों को भर सके जो शारीरिक श्रम, खेल-कूद, गप-शप के बाद उनपर भारी बन जाती हैं, जब उन्हें घर की, बाल-बच्चों की (बाल-बच्चों-से प्रिय खेत-खलिहानों की) याद सताती है; जब वे अपने ज़िले (और इस प्रकार अपने गांव) के मौसम तथा फ़सलों की स्थिति, बीवी-बच्चों की ख़ैर-ख़बर, सगे-सम्बन्धियों, मित्र-स्नेहियों के सगाई-विवाह तथा जन्म-मरण के समाचार जानने के लिए आतुर हो उठते हैं। उनकी इसी आवश्यकता को किसी हद तक पूरा करने के लिए यह पत्र निकाला गया था और पहले-पहल इसकी परिधि केवल दो पृष्ठों तक सीमित थी और इसे निकालने के लिए बहुत छोटा स्टाफ़ था।

यद्यपि प्रत्येक युद्ध के बाद इस स्टाफ़ में कुछ ट्रान्सलेटर-क्लर्कों की वृद्धि होती गई थी और व्यवस्थापक-अमला भी बहुत बड़ा हो गया था, परन्तु इसके सम्पादन और व्यवस्था का ढंग वही पचास वर्ष पुराना था।

पत्र का अधिकांश मसाला सरकार के सूचना विभाग से सप्लाई होता था। उप-सम्पादक और प्रायः अंग्रेज़ी का टाइपिस्ट ही उसका सम्पादन कर लेता। यह मसाला टाइप हो जाता। एक-एक कापी सभी सेक्सनों में बंट जाती और उसका अनुवाद हो जाता। कोई भी ऐसी चीज़ दूसरे एडीशनों में न छप सकती जो अंग्रेज़ी में न छपती हो। गप-शप और लतीफे भी पहले अंग्रेज़ी ही में लिखे जाते और फिर अंग्रेज़ी में अनूदित होते। दूसरे संस्करण सैनिकों के लिए होते और अंग्रेज़ी का उनके अफ़सरों के लिए, ताकि वे देख सकें कि पत्र में कोई ऐसी-वैसी विद्रोहात्मक अथवा राजनीतिक चीज़ तो नहीं छपती। लेखों और उनके शीर्षकों तक में कोई परिवर्तन न किया जाता।

कैप्टन रशीद ने चार्ज संभालते ही इस पत्र को एक पत्रकार की निगाहों से देखा। उनकी भवें तन गईं, होंठ बिगड़ गए—अतीव उपेक्षा से पत्र को मेज़ पर पटकते हुए उन्होंने कहा—'रब्बिश!' (Rubbish) और एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर उन्होंने समाचारपत्र की मुर्दा नसों में नये प्राण

डालने की स्कीम बना ली।

हेड आफ़िस में उनके अफ़सरों ने शोर मचाया कि फ़ाइनेन्स(Finance) वाले इस स्कीम को कैसे स्वीकार करेंगे? आधी शताब्दी से जो पत्र बड़े आराम से चलता आया है, उसमें इतने बड़े परिवर्तन पर वे किस प्रकार चुप रहेंगे? इस स्कीम को मान लेना तो पहले अफ़सरों को मूर्ख मान लेने के बराबर होगा···आदि-आदि···

लेकिन कैप्टन रशीद इस बहस के लिए पूरे तौर पर तैयार होकर गए थे। उन्होंने बड़े धैर्य के साथ पहले इस पत्र के महत्त्व का ज़िक्र किया, "यह भारतीय सेना का एक मात्र ऑर्गन है," उन्होंने कहा, "इसके द्वारा न केवल हम सैनिकों को अपनी नीति के अनुसार ढाल सकते हैं, बल्कि उनकी एक बड़ी ज़रूरत को पूरा करते हैं।" फिर उन्होंने कहा कि आज के भारतीय सैनिक पचास वर्ष पहले के सैनिकों से राजनीतिक तौर पर कहीं अधिक जागृत हैं, इसलिए अखबार को और भी दानाई से निकालने की ज़रूरत है। इसके बाद उन्होंने इस बात की शिकायत की कि इतने महत्त्वपूर्ण अख़बार को इतने अर्से से केवल क्लर्क ही निकालते रहे हैं, जिन्हें जर्नलिज़्म का—जर्नलिज़्म दूर रहा—अनुवाद-कला तक का कोई अनुभव नहीं। उन्होने उर्दू-संस्करण से अनुवाद के कुछ नमूने दिखाए कि किस प्रकार अनुवादक मक्खी पर मक्खी मारकर पत्र का सत्यानाश कर रहे हैं। फिर उन्होंने एक सर्वथा नई युक्ति पेश की, "मैं अंग्रेज़ी का एडीशन देख सकता हूं," उन्होंने कहा, "उर्दू का भी देख सकता हूं, लेकिन हिन्दी, गुरुमुखी, तमिल, तेलगू और मराठी का तो नहीं। साठ-साठ रुपया पाने वाले क्लर्कों के हाथ में ये एडीशन छोड़ दिए गए हैं। कौन जाने वे इनमें क्या छापते हैं, क्या नहीं छापते। हर एडीशन का एडीटर एक ज़िम्मेदार जर्नलिस्ट होना चाहिए, जो न सिर्फ़ अख़बार के हर मज़मून पर नज़र रखे, बल्कि इसकी एडीटिंग में भी जंग की नई ज़रूरतों के मुताबिक तबदीली करता रहे।"

उनकी बात मान ली गई। पत्र के प्रत्येक संस्करण के लिए अढ़ाई-अढ़ाई सौ रुपये के वेतन पर एक-एक उप-सम्पादक और अंग्रेज़ी के लिए एक नया अनुभवी उप-सम्पादक रखने की स्कीम बनी और उसे वित्त-विभाग को भेज दिया गया।

वित्त-विभाग ने पहले-पहल केवल चार सेक्शनों के लिए सब-एडीटर रखने की स्वीकृति दी और कहा कि यदि इससे समाचारपत्र में कोई विशेष अन्तर दिखाई दिया तो शेष दो सेक्शनों के लिए भी सब-एडीटर रखने की स्वीकृति दे दी जाएगी।

सर्दियों के दिन थे और यद्यपि आठ बज चुके थे, किन्तु धूप जैसे इस शीत में जागते हुए डर रही थी और इर्द-गिर्द की कोठियों के वासियों की भांति कहीं पूरब की सेज पर लिहाफ़ ओढ़े सो रही थी। आकाश की निद्रा-लस आंखों में अभी रात की खुमारी थी, किन्तु धरती जाग चुकी थी। दोनों ओर की कोठियों में यूकलिप्टस, जामुन, शिरीष आम, नीम के बृहत् पेड़ों की अपेक्षाकृत नंगी डालियां आकाश की निन्दासी आंखों को चूम रही थीं। ठण्डी हवा चल रही थी और पेड़ों के पत्ते सड़क और फ़ुटपाथों पर उड़ रहे थे।

कैप्टन रशीद की आंखें न उस समय आकाश का खुमार देख रही थीं, न धरती की मस्ती; वे तो अपने सामने अपने पत्र को चोला बदलते हुए देख रहे थे। उनकी कल्पना में तो उनका पत्र सांप की तरह अपनी पुरानी केंचुली उतारकर नई बदल रहा था। अपने दोनों हाथ पतलून की जेबों में डाले वे अपने मस्तिष्क में उन चार आसामियों के चुनाव-हेतु आने वाले प्रार्थियों से इण्टरव्यू कर रहे थे।

आसामियां यद्यपि चार ही थीं, किन्तु उनके लिए (युद्ध-काल में बेकारों का अभाव होने के बावजूद) अगनित आवेदन-पत्र आए थे। कैप्टन रशीद ने उनमें से केवल बीस को इण्टरव्यू के लिए बुलाया था। हर सेक्शन के लिए उन्होंने पांच-पांच दरख़्वास्तें चुन ली थीं। इन प्रार्थियों में से कुछ प्रतिष्ठित पत्रों में काम करते थे। उनकी योग्यता और अनुभव से वे स्वयं परिचित थे। यही कारण था कि चुनाव में उन्हें कठिनाई-सी हो रही थी। कल्पना ही कल्पना में वे कभी इसको और कभी उसको चुनते हुए दफ़्तर पहुंचे।

दफ़्तर को झाड़-पोंछकर चपरासी उनकी प्रतीक्षा में एक स्टूल पर बैठा था। उनके पहुंचते ही एकदम खड़े होकर उसने उन्हें फ़ौजी सलाम किया।

कैप्टन रशीद ने उसके सलाम का उत्तर नहीं दिया। अपने विचारों में

मग्न वे कुर्सी पर जा बैठे। कुर्सी को छूते ही जैसे वे चौंके और उन्होंने घण्टी पर हाथ मारा—'टन!'

मानो रबड़ के तार से खिंचा हुआ चपरासी आ उपस्थित हुआ।

"पण्डित जी को सलाम दो!" पत्र का ताज़ा एडीशन उठाते हुए कैप्टन रशीद ने आदेश दिया।

अपने अफ़सर को समय से पहले आते देखकर जो क्लर्क उससे भी पहले आने लगे थे, उनमें पण्डित किरपाराम सबसे आगे थे। पचपन वर्ष की बेफ़िक्री और बेकारी के कारण मोटा थलथल-पिलपिल शरीर, गंजा सिर और अगले दांतों से वंचित मुंह—इस पत्र के दफ़्तर में वे एक नवयुवक क्लर्क के रूप में आए थे और समय-समय पर हिन्दी, उर्दू, गुरुमुखी—तीनों सेक्शनों के ट्रान्सलेटर और फिर इंचार्ज रह चुके थे। अनुवाद-कला में उन्हें योग्यता प्राप्त हो, यह बात न थी। योग्यता प्राप्त होना तो दूर रहा, वे तो इस कला से नितान्त अनभिज्ञ थे, किन्तु उन्हें उस कला में पूरी-पूरी निपुणता प्राप्त थी जो प्रायः सरकारी दफ़्तरों में एक क्लर्क को दूसरों से आगे निकल जाने में सहायता देती है। अनुवाद तो उनके दूसरे मन्द-भाग्य साथी करते थे। उनका काम तो साहब के लिए टैक्सी, राशन, पेट्रोल, मुर्ग़-मुर्ग़ियों से लेकर साहब की मेम के लिए पाउडर, रूज़, क्रीम और ऐसी ही अनगिनत दूसरी चीज़ें जुटाना होता। सुबह आते समय और संध्या को जाते समय वे नियमित रूप से साहब को सलाम करते। जब साहब हेड आफ़िस जाते तो वे प्रायः उनकी अर्दल में जाते, नहीं तो कम से कम कार तक छोड़ने ज़रूर जाते और जब साहब वापस आते तो वे उन्हें कार से लेने अथवा हेड आफ़िस का हाल-चाल जानने अवश्य पहुंचते। साहब की मुस्कान पर खीसें निपोर देना और परेशानी पर भवें चढ़ा लेना उन्हें ख़ूब आता था। अपने इन्हीं गुणों की बदौलत वे धीरे-धीरे उन्नति पाते हुए सेक्शन के इंचार्ज हो गए थे। इससे पहले कि चपरासी उन्हें साहब का सलाम देने जाता, वे दांत निकोसते हुए स्वयं साहब को सलाम करने आ पहुंचे।

साहब ने उनके सलाम का उत्तर ज़रा-सा सिर हिलाकर दिया। मुस्कान का उत्तर देना शायद उसने उचित नहीं समझा।

इस नये देसी साहब के मनोविज्ञान को समझने में सर्वथा असफल रहने

के कारण पण्डित जी केवल खिन्नता से किंचित् हंसकर खड़े रह गए।

"आज कितने लोग इण्टरव्यू के लिए आ रहे हैं?"

पण्डित जी फ़ाइल लेने भागे।

कैप्टन रशीद ने अखबार का ताज़ा एडीशन उठाया। पहले पृष्ठ पर ही टाइप की इतनी ग़लतियां थीं कि उनका ख़ून खौल उठा। यह देख वे प्रेस के मालिक को फ़ोन करने ही वाले थे कि टेलीफ़ोन की घण्टी बजी।

"हैलो!" चोंगा उठाते हुए उन्होंने कुछ असन्तोष के स्वर में कहा।

दूसरी ओर उनके पिता थे।

"छद्दू," उनके स्वर को पहचानकर ख़ानबहादुर बोले, "तुमसे शायद तुम्हारी अम्मा ने कहा होगा, बेटा ज़रा हनीफ़ का ख़याल रखना। कल वह मेरे पास आया था। वह अपना रिश्तेदार भी है और फिर..."

"लेकिन अब्बा जान, आप क्या कहते हैं?" कैप्टन रशीद ने अपने पिता की बात काटकर कहा, "हनीफ़ तो इस पोस्ट के बिलकुल नाक़ाबिल है।"

"नाक़ाबिल," दूसरी ओर से ख़ानबहादुर बोले, "बी० ए० ऑनर्स है।"

"बी० ए० ऑनर्स होने से कोई जर्नलिस्ट तो नहीं बन जाता अब्बा जान! मुझे तजरुबेकार जर्नलिस्टों की ज़रूरत है, जो अख़बार की काया पलट दें। हनीफ़ को तो जर्नलिज़्म की ए-बी सी का भी इल्म नहीं।"

"अरे भाई सीख लेगा। कौन-सी चीज़ है जो मेहनती आदमी..."

अपने पिता के हठ पर कैप्टन रशीद की भृकुटी तन गई। पर बड़ी कठिनाई से अपने-आपपर संयम रख, पिता की बात काटते हुए उन्होंने कहा, "यह अख़बार का दफ़्तर है अब्बा जान, जर्नलिज़्म का स्कूल नहीं। मैं नाक़ाबिल एडीटर ले लूंगा तो अफ़सर क्या कहेंगे! हनीफ़ दूसरों के साथ किस प्रकार अपनी चाल क़ायम रख सकेगा। जिन ट्रान्सलेटरोंका उसे अफ़सर बनाया जाएगा, वे अपने दिल में क्या ख़याल करेंगे, सभी हंसेंगे!"

"सरकार के दफ़्तरों में एक से एक बढ़कर बेवकूफ़ भरे पड़े हैं।" अनुभवी ख़ानबहादुर बोले।

"आप मुझसे बद-दयानती करने को कहते हैं!" कैप्टन रशीद गरजे।

उनकी आवाज़ इतनी ऊंची उठ गई कि परले कमरे में क्लर्क दम साधकर बैठ गए।

"तुम तो बेवकूफ़ हो!" और यह कहकर उनके पिता ने टेलीफ़ोन बन्द कर दिया।

ठक से चोंगे को फ़ोन पर रखकर कैप्टन रशीद उठे। इण्टरव्यू में आने वाले प्रार्थियों की फ़ाइल उनके सामने खोलकर पण्डित किरपाराम खड़े मुस्करा रहे थे। कैप्टन रशीद ने अंगारा-सी आंखों से उनकी ओर देखा और मुस्कान मानो पण्डित जी के ओंठों पर पीली पड़ गई।

"तो...तो...मैं..."

"आप जा सकते हैं।"

और यह कहकर ट्यूनिक के दोनों कालरों को दोनों हाथों से पकड़े कैप्टन रशीद कमरे में चक्कर लगाने लगे।

घूमते-घूमते उनके सामने प्रेस के मालिक खानबहादुर और अपने खान-बहादुर पिता का चित्र खिंच गया और अपने खानबहादुर पिता का सब क्रोध प्रेस के मालिक खानबहादुर पर निकालने के लिए, जो पत्र की निकृष्ट-तम छपाई करता था, उन्होंने फिर चोंगा उठाया, लेकिन तभी बाहर मेजर सलीम की मोटर आकर रुकी और दूसरे क्षण मेजर सलीम अपनी अलसाई हुई मुस्कान होंठों पर लिए एक युवक के साथ अन्दर दाख़िल हुए।

कैप्टन रशीद ने चोंगा वहीं रखकर उन्हें फौजी सलाम किया। यद्यपि मेजर सलीम से उनका सम्बन्ध लगभग मित्रों जैसा हो गया था, किन्तु कैप्टन रशीद सैनिक डिसिप्लिन के अनुसार उन्हें अब भी सलाम ही किया करते थे।

मेजर सलीम हंसे। "आप भी रशीद साहब बस..." और उन्होंने सलाम का जवाब देने के बदले हाथ बढ़ा दिया। "बैठिए, बैठिए!" उन्होंने अपनी अलसाई-सी मुस्कान से कहा, "इतना तकल्लुफ़ न कीजिए।" और इससे पहले कि कैप्टन रशीद अपनी कुर्सी पर बैठते, उन्होंने अपने साथी का परिचय देते हुए कहा—"ये हैं मि० ज्योति स्वरूप भार्गव बी० ए०! हिन्दी के जाने-माने लेखक और जर्नलिस्ट हैं। उर्दू भी जानते हैं। कई अखबारों में काम कर चुके हैं और कई किताबें लिख चुके हैं। कुछ दिन अखबार के

हिन्दी-एडीशन में ये आपकी मदद करेंगे।" और मेजर साहब ने घण्टी बजाई और चपरासी से पण्डित जी को सलाम देने के लिए कहा।

लेकिन पण्डित जी तो मोटर देखकर स्वयं ही मेजर साहब को सलाम देने चले आ रहे थे।

"पण्डित जी,ये हैं मिस्टर ज्योति स्वरूप भार्गव बी० ए०," मेजर साहब बोले, "ये कुछ दिन हिन्दी के काम में मदद देंगे।"

और उन्होंने श्री भार्गव से पण्डितजी के साथ जाने को कहा।

जब दोनों चले गए तो मेजर सलीम बोले,"ये कर्नल चोपड़ा के आदमी हैं। आप किसी तरह इन्हें एकॉमोडेट (Accomodate) कीजिए। आदमी लायक़ हैं आपको किसी तरह की तकलीफ़ न होगी।"

"ये किस अखबार में काम करते हैं ?" कैप्टन रशीद ने पूछा।

"अभी तो ये बर्मा से भागकर आए हैं। यहां एक फ़र्म में कैनवेसर हैं, लेकिन वहां 'बर्मा-समाचार' नाम से एक अख़बार निकाला करते थे।"

"लेकिन ट्रान्सलेशन···"

"इन्होंने दो अंग्रेज़ी किताबों का हिन्दी में तरजुमा किया है। कर्नल हरडन ने अंग्रेज़ी में 'पोल्ट्री फ़ार्म' के नाम से जो किताब लिखी है, उसका उल्था इन्होंने हिन्दी में किया है। आज-कल हमारी फ़ौजों के सामने अण्डे जुटाने का सवाल बुरी तरह पेश है। यूनिटों को अपने निजी मुर्ग़ीख़ाने खोलने के लिए कहा जा रहा है। आप कर्नल हरडन की किताब को अंग्रेज़ी में क़िस्तों से छापिए। उर्दू और हिन्दी में भार्गव साहब आपको मसाला तैयार कर देंगे।"

और जैसे एक बड़े बोझ को सिर से उतारकर मेजर सलीम कुर्सी पर पीछे को झुक गए और सिगार सुलगाने लगे। एक लम्बा कश खींचकर उन्होंने इतना और कहा, "यह किताब हमारे जवानों के बड़े काम की है, उनमें से ज़्यादातर किसान हैं और उनको जंग के बाद मुर्ग़ियां पालने का कारोबार करना पड़ेगा।"

कैप्टन रशीद चुप रह गए। उन्होंने एक प्रसिद्ध हिन्दी दैनिक के स्टाफ़ से एक अनुभवी पत्रकार को लेने की सोच रखी थी। उनके लिए वहां बैठना कठिन हो गया। वे स्वयं सिगरेट पीने के आदी न थे, किन्तु उन्होंने अफ़सरों

और दूसरे विज़िटरों की आवभगत के लिए केवेण्डर का एक डिब्बा रख छोड़ा था। कभी-कभार स्वयं भी उनके साथ सुलगा लेते थे। उस समय उन्हें कुछ ऐसी घबराहट हुई कि उन्होंने उठकर डिब्बे में से एक सिगरेट निकाला और उसे सुलगा लिया।

कुछ ही कश खींचने से उनका मुंह कड़ुवा हो गया। मेजर सलीम की आंख बचाकर उन्होंने सिगरेट खिड़की से बाहर फेंक दिया। उनका जी हो रहा था कि दोनों हाथ पतलून की जेब में डालकर कमरे में तेज़-तेज़ चक्कर लगाएं, लेकिन मेजर की उपस्थिति में उन्हें ऐसा करना ठीक न लगा। वे फिर आकर कुर्सी पर बैठ गए और कुछ संकोच के साथ बोले :

"आपका खयाल है, ये साहब अखबार में फ़िट कर जाएंगे। जर्नलिज़्म का मामूली तजरुबा तो हमारे ट्रान्सलेटरों को भी है। हम तो क़ाबिल जर्नलिस्ट चाहते हैं।"

मेजर सलीम ने जैसे उनकी बात नहीं सुनी। सिगार के एक-दो कश खींचकर उन्होंने कहा :

"कर्नल चोपड़ा आपकी सिफ़ारिश कर रहे थे।"

"मेरी!"

"वे कहते थे कि आपको मेजर की रैंक मिलनी चाहिए, क्योंकि आप से पहले इस अखबार के जितने एडीटर रहे हैं, सभी मेजर थे।"

कैप्टन रशीद श्री भार्गव के सम्बन्ध में कुछ और पूछने जा रहे थे कि चुप हो रहे और यह सुसमाचार सुनाकर मेजर सलीम उठे और फिर जैसे उन्हें सहसा कोई बात याद आ गई हो, उन्होंने कहा, "आज तो मीटिंग है।"

"मीटिंग ?"

"ब्रिग्रेडियर कल फ्रण्ट से लौटे हैं, उसी सिलसिले में वे कुछ ज़रूरी बातें डिसकस (Discuss) करना चाहते हैं। चलिए मेरे साथ ही चलिए।"

"लेकिन इन्टरव्यू······?"

"क्या वक़्त दिया है इन्टरव्यू का आपने ?"

"ग्यारह से चार तक।"

"जब तक तो आप बीस बार लौट आएंगे।"

विवश होकर कैप्टन रशीद असिस्टैण्ट एडीटर लेफ़्टिनेन्ट अलीगुल खां के कमरे में गए, "मुझे ज़रूरी तौर पर मीटिंग में जाना पड़ रहा है। इण्टरव्यू के लिए जो साहब आएं, उन्हें बैठाइए। उनसे बातचीत कीजिए। मैं जल्दी आने की कोशिश करूंगा।"

यह कहकर वे कार में मेजर साहब की बग़ल में जा बैठे।

शाम के साढ़ पांच बजे उनकी कार हेड आफ़िस से वापस आई तो उनके साथ एक सिख सूबेदार साहब भी उतरे।

फ़्रन्ट से आने के बाद ब्रिगेडियर साहब जो ज़रूरी बात उनको बताना चाहते थे, वह यह थी कि पत्र में बहुत-से टेकनिकल शब्दों का प्रयोग ग़लत होता है। उनका अनुवाद भी ग़लत होता है। बर्मा के मोर्चे पर जिस शब्द के लिए अनुवादक 'खन्दक' का प्रयोग करते हैं, उनके स्थान पर 'गन की चौकी' होना चाहिए, क्योंकि वहां ख़न्दक नाम की चीज़ नहीं। 'फ़ॉक्स होल' की जगह एक स्थल पर 'लोमड़ी की गुफा' अनुवाद हुआ है, हालांकि यह सैनिकों ही की गुफा होती है। ऐसी बीसियों मिसालें अख़बारों में थीं। ब्रिगेडियर साहब ऐसे ग़लत अनुवाद पर बहुत लाल-पीले हुए और उन्होंने कहा कि अख़बार के स्टाफ़ में कोई ऐसा फ़ौजी अफ़सर अवश्य होना चाहिए, जिसे फ्रन्ट का पूरा अनुभव हो। ब्रिगेडियर साहब की इस बात का सब अफ़सरों ने समर्थन किया और कहा कि वे तो स्वयं यही बात कहना चाहते थे और कर्नल चोपड़ा ने तो यह प्रस्ताव भी किया कि नई स्कीम के अधीन एक फ़ौजी अफ़सर अखबार में ले लिया जाए।

मीटिंग के बाद जब ब्रिगेडियर साहब ने कैप्टन रशीद को अपने कमरे में बुलाया तो उन्होंने उनका परिचय एक सिख सूबेदार साहब से कराया, "अख़बार के स्टाफ़ पर एक फ़ौजी अफ़सर का होना ज़रूरी हैं।" उन्होंने कहा, "सूबेदार पुराने अफ़सर हैं, जंगी शब्दों से पूरी तरह परिचित हैं, इन्हें गुरुमुखी का चार्ज दीजिए।"

और उन्होंने सूबेदार साहब को कैप्टन रशीद के साथ जाने की आज्ञा दी। एक फ़ौजी सलाम ठोंककर सूबेदार साहब कैप्टन रशीद के साथ हो

लिए।

"बाश्शाहो, मैंनूं तां जर्नलिज़्म-वर्नलिज़्म का कोई तजरबा नईं," कार में सूबेदार साहब कैप्टन रशीद की बग़ल में बैठे बता रहे थे, "मैं ब्रिगेडियर साब नाल बहुत पहले कम्म करदा रिहा हां, ते ओह मेरे ते बड़े मेहरबान ने। मैं उन्हां नूं किहा सी कि साब मैंनूं कोई होर नौकरी दे दे। मैं कदीं अखबारां दी शकल तक नईं डिट्ठी, कम्म करना तां दूर रिआ, लेकिन ब्रिगेडियर साब ने किहा, 'वेल सूबेदार, तुम कोशिश करो, कोई मुश्किल नेईं। मैं एडीटर नूं आख दियांगा कि ओह तैनूं सिखा देवे। मैं चाहुनां हां कि मिलिट्री दा इक आदमी अखबार विच्च ज़रूर होवे, जिसनूं बाकायदा लड़ाई दा तजरबा होवे।' "[1]

"आप किस फ्रण्ट पर हो आए हैं?" कैप्टन रशीद ने पूछा।

और भोले-भाले सूबेदार ने बताया :

"बाश्शाहो, कुत्ते दी मौत मरना होंदा ते एथे आवन दी की लोड़ सी? मैं बदक़िस्मती नाल इंजीनियर कोर विच भरती हो गया सी, ते तजरबा मैंनूं कक्ख ना होया सी। साड़ी कोर कुछ दिनां तक बर्मा फ्रण्ट जान वाली ऐ। मैं साब नूं आखिया, 'भई जे मेहरबानी करनी एं ते हुण कर। पिच्छे मेरे बाल अयाने ने ते उन्हां नूं देखन वाला कोई नईं। जे असां फ्रण्ट नूं टुर गए ते, फेर तेरी मेहरबानी किस दिन कम्म आऊ, साब मेरे ते खुश ए। मेरी हालत ते ओहनूं तरस आ गिया ते ओस मैंनूं एथे घल्ल दित्ता। मैं कम्म सिखन दी पूरी कोशिश करांगा। जे मैं एथे कामयाब हो गया ते साब ने मेरे नाल वादा कीता है कि मेरे लई तग़मे दी सिफ़ारिश करेगा।"[2]

---

१. बादशाहो, मुझे जर्नलिज्म आदि का कोई अनुभव नहीं। मैं बहुत पहले ब्रिगेडियर साहब के साथ काम करता रहा हूं और वे मुझपर बड़े कृपालु हैं। मैंने उनसे कहा था कि साहब मुझे कोई दूसरी नौकरी दे दो। मैंने कभी अख़बार की शक्ल तक नहीं देखी, उसमें काम करना तो दूर रहा। लेकिन ब्रिग्रेडिर साहब ने कहा, वेल सूबेदार, तुम कोशिश करो, कोई मुश्किल नहीं। मैं एडीटर से कह दूंगा कि वह तुझे सिखा दे। मैं चाहता हूं कि फ़ौज का एक आदमी अख़बार में ज़रूर हो जिसको लड़ाई का बाकायदा तजरुबा हो।

२. बादशाहो, यदि (फ्रण्ट पर) कुत्ते की मौत मरना होता, तो यहां आने की क्या आवश्यकता थी। मैं दुर्भाग्यवश इंजीनियर-कोर में भरती हो गया था। और

दफ़्तर में जाकर मेज़ पर बैठते ही कैप्टन रशीद ने घण्टी पर हाथ मारा।

"पण्डित किरपाराम को सलाम दो!" उन्होंने चपरासी को आज्ञा दी।

लेकिन पण्डित जी स्वयं साहब को सलाम देने और हेड आफ़िस का हाल-चाल पूछने आ रहे थे।। मुस्कराते हुए उन्होंने साहब का हुक्म पूछा।

पिछले तीन महीने में पहली बार कैप्टन रशीद ने पण्डित जी की मुस्कान का उत्तर दिया। कुछ हकलाते हुए उन्होंने कहा, "सूबेदार साहब ब्रिगेडियर के आदमी हैं। ये गुरुमुखी के सब-एडीटर होंगे। ब्रिगेडियर साहब चाहते हैं कि अख़बार के स्टाफ़ पर एक फ़ौजी अफ़सर होना चाहिए।" (यहां उन्होंने वे सब युक्तियां दोहराईं जो ब्रिगेडियर ने मीटिंग में दी थी) इसलिए गुरुमुखी केट्रान्सलेटरों से कह दें कि वे इनकी मदद करें और कोई तकलीफ़ न दें।"

"अर्जी आप चिाता न करें, सब ठीक हो जाएगा।" पण्डित जी ने आत्म-विश्वास से हंसते हुए कहा, "जब तक मैं हूं, किसी अफ़सर को कोई कष्ट नहीं हो सकता। जिस तरह आप चाहते हैं, वैसा ही होगा।"

और जब वे सूबेदार साहब को साथ लिए हुए कैप्टन रशीद के कमरे से बाहर निकले तो उनके ओठों पर मुस्कराहट और भी फैल गई।

उनके बाहर जाते ही कैप्टन रशीद ने फिर घण्टी पर हाथ मारा।

"लेफ़्टिनेण्ट अली को सलाम दो।"

लेफ़्टिनेण्ट के आने पर उन्होंने पूछा, "मेरा पैग़ाम मिल गया था?"

"जी!"

"इण्टरव्यू ले लिया?"

अनुभव मुझे तृण-मात्र भी न हुआ था। हमारी कोर कुछ ही दिनों में बर्मा फ्रण्ट पर जाने वाली है। मैंने साहब से कहा कि यदि कृपा करनी हो तो अब कर। मेरे छोटे-छोटे बच्चे हैं और मेरे सिवा उन्हें देखने वाला कोई नहीं। यदि हम फ्रण्ट को ही चले गए तो तुम्हारी कृपा किस दिन काम आएगी। साहब मुझपर प्रसन्न है। मेरी स्थिति पर उसे तरस हो आया और उसने मुझे आपके साथ भेज दिया। मैं काम सीखने की पूरी कोशिश करूंगा, यदि मैं यहां सफल हो गया तो साहब ने मुझे वचन दिया है कि वह मेरे लिए पदक की सिफ़ारिश करेगा।

"हिन्दी और गुरुमुखी के उम्मीदवारों का इण्टरव्यू हो गया है। बाक़ी को आपके टेलीफ़ोन के मुताबिक कल आने के लिए कह दिया है।"

"आप उन्हें भी निबटा लेते। उम्मीदवारों का चुनाव तो लगभग हो गया है।"

"अंग्रेज़ी के लिए कौन आ रहा है?"

"डायरेक्टर-जनरल का कोई आदमी है। ब्रिगेडियर कह रहे थे, डायरेक्टर अंग्रेज़ी का असिस्टैण्ट बहुत लायक़ चाहते हैं, क्योंकि उसीसे बाक़ी सब एडीशनों का पेट भरता है। शायद कोईआदमी हेड आफ़िस से आए।"

"और उर्दू?"

"उसके लिए भी चुनाव हो गया समझिए।"

यह कहकर उन्होंने फ़ाइल उठाई और काम में लग गए।

लेफ़्टिनेण्ट अलीगुल खां अपने कमरे में चले गए।

कैप्टन रशीद ने फ़ाइल अपने सामने रख तो ली, लेकिन हस्ताक्षर वे एक काग़ज़ पर भी न कर सके। फ़ाइल को एक ओर हटाकर और ट्यूनिक के कालरों को दोनों हाथों से पकड़े वे कमरे में घूमने लगे।

सात बज चुके थे। चपरासी ने झिझकते हुए भीतर कमरे में झांककर देखा—कैप्टन रशीद उसी तरह ट्यूनिक के कालरों को थामे सिर झुकाए कमरे में चक्कर लगा रहे थे।

दूसरी सुबह जब पण्डित किरपाराम साहब को सलाम देने पहुंचे तो उन्होंने कैप्टन रशीद के बराबर की कुर्सी पर एक नवयुवक को बैठे देखा, "यह हैं मिस्टर हनीफ़—बी० ए० ऑनर्स," उसका परिचय लेतेहुए उन्होंने पण्डित जी से कहा, "ये उर्दू सेक्शन का काम संभालेंगे।"

पण्डित जी ने खीसें निपोरते हुए मिस्टर हनीफ़ को सलाम किया और उन्हें साथ ले चले। चलतेसमयकैप्टन रशीद के ये शब्द उनके कान में पड़े:

"ज़रा ट्रान्सलेटरों से कह दीजिएगा, इन्हें काम सीखने में मदद दें।"

ख़ाली डिब्बा

गाड़ी अभी पूरी तरह खड़ी भी न हुई थी कि सुभाष मेरा हाथ छोड़कर भागा। उसने फ़र्स्ट क्लास की बोगियों को एक सिरे से दूसरे सिरे तक देख लिया। एक भी सीट ख़ाली न थी। तब वह भागा-भागा इन्क्वायरी क्लर्क खन्ना के पास गया। मालूम हुआ कि एक पैसेंजर को यहीं उतरना था, ऊपर की एक सीट ख़ाली होगी। लेकिन घबराहट में दोबारा देखने पर भी सुभाष को कोई सीट ख़ाली न दिखाई दी। तब बाबू ने स्वयं डिब्बे देखे। एक अफ़सर बाथरूम से निकल, शीशे के सामने अपने बाल संवार रहे थे। उनका चपरासी बिस्तर गोल कर रहा था। उन्हें शायद यहीं उतरना था। खन्ना ने सुभाष को बुलाकर वह सीट दिखाई और कहा कि इसपर आप लाला जी का बिस्तर लगा दीजिए।

कुली सुभाष के साथ-साथ बिस्तर लिए घूम रहा था। उससे स्वयं बिस्तर उतरवाकर सुभाष ने सीट पर लगवाया; सीट के नीचे जगह बनाकर ट्रंक रखवा दिए; सुराही एक ओर रख दी और सुख की सांस लेकर माथे का पसीना पोंछता हुआ वह नीचे उतरा।

"चाचा जी बड़े घबरा रहे थे," उसने मुझसे कहा, "लेकिन बाबू जान-पहचान वाले हैं।" और वह हंसा, "सीट यहां हमेशा मिल जाती है।" फिर कुली को पैसे देने के लिए उसने बटुआ खोला।

तभी सुभाष के चाचा, लाला भगवानदास हांफते हुए पुल से उतरते दिखाई दिए। आगे बढ़कर मैंने उनसे हाथ मिलाया, "तीन-चार बार तुम्हें

फ़ोन किया," मैंने कहा, "लेकिन हर बार ऐंगेज्ड मिला। फिर जब कनेक्ट हुआ तो पता चला कि चन्द दोस्तों को लेकर कॉफ़ी-हाउस गए हो। वहां पहुंचा तो मालूम हुआ कि पांच मिनट पहले निकल गए हो। सुभाष ने बताया कि दिल्ली एक्सप्रेस से जाओगे, सो यहां चला आया। कहो कैसे हाल-चाल हैं?"

लेकिन लाला जी को किसीका हाल-चाल पूछने या बताने की सुध न थी। उनके चौड़े माथे पर पसीने की बूंदें झलक आई थीं। हंसता-गोरा मुख हल्की-सी चिन्ता से धुंधलाया हुआ था। पल-भर को रुके बिना, मेरे कन्धे पर हाथ रखकर लगातार चलते हुए वे होंठों में कुछ बुदबुदाए कि उनका तीन दिन का प्रोग्राम था, पर दिल्ली से ट्रंक-काल आ गया, सीट बुक नहीं कराई, सुभाष को भेजा था, पता नहीं सीट मिली या नहीं।—बातें वे मुझसे कर रहे थे, पर आंखें उनकी न जाने कहां थीं, ध्यान उनका यक़ीनन सीट ही में लगा था।

मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि सीट मिल गई है, सुभाष ने सामान रखा दिया है और वे चिन्ता न करें।

तभी कुली को पैसे चुकाकर सुभाष आ गया। "सीट तो चाचा जी ऊपर की मिली है।" उसने किंचित् निराशा से कहा।

"नीचे की क्यों नहीं मिली?"

"सभी रिज़र्व्ड थीं।"

"यहां के लिए भी कुछ सीटें खाली होती हैं। बाबू को कुछ दे-दिला देते।" लाला जी बोले।

"एक घंटा पहले आया था, इनसे पूछिए," उसने मेरी ओर संकेत किया, "खन्ना मेरा दोस्त है, उसे चाय पिलाई, अण्डा-तोस खिलाए। उसने वादा किया था कि गाड़ी आने दो, मिल जाएगी। लेकिन सीटें बुक्ड थीं। नीचे की और कोई सीट ख़ाली नहीं थी। मैं ख़ुद सारे डिब्बे देख आया हूं।"

लेकिन लाला जी को सन्तोष नहीं हुआ। एक बार उन्होंने डिब्बे में जाकर अपनी सीट को देखा, फिर नीचे उतर आए और उन्होंने सुभाष को साथ लेकर खन्ना को जा पकड़ा।

खन्ना कई पैसेंजरों में घिरा था। उनमें से रास्ता बनाकर लाला जी उस तक पहुंचे, "क्यों खन्ना साहब, चार सीटें तो यहां के लिए भी ख़ाली होती हैं ?" उन्होंने कहा।

"हां !" बिना लाला जी की ओर देखे खन्ना ने उत्तर दिया।

"क्या सभी बुक्ड थीं ?" लाला जी ने पूछा।

"हां !..." खन्ना ने उसी तरह बिना उनकी ओर देखे कहा, फिर वह सहसा पलटा, उसने लाला जी को देखा, नमस्कार किया, मुस्कराया और बोला, "क्यों, आपको तो सीट दिलवा दी है ?"

"कोई नीचे की सीट मिल जाती..." लाला जी ने लगभग फ़रियाद के स्वर में कहा।

"आपको शायद अपने ही नीचे वाली सीट मिल जाए।" खन्ना बोला, "मैंने कण्डक्टर से पूछा है। एक फ़ोर-सीटर पीछे से ख़ाली आया था, लेकिन शायद उसमें कुछ गड़बड़ है। पीछे ही से बन्द आ रहा है। यहां शायद उसे खोला जाए। आपके नीचेवाली सीट एडवोकेट-जनरल वर्मा की है। डिब्बा खुल जाए तो वे उधर चले जाएंगे, आप नीचे आ जाइएगा।"

लाला जी सन्तुष्ट हो वापस अपने डिब्बे में आए। वर्मा आ गए थे। उनके सहायक बिस्तर खुलवा रहे थे। तब लाला जी ने उनको सुनाकर कहा कि एक डिब्बा पीछे से बन्द आ रहा है। शायद यहां खोला जाए। इन्क्वायरी क्लर्क कह रहे थे कि आपको वहां शिफ़्ट कर देंगे।

"क्या यह सीट आपकी है ?" सहसा एडवोकेट-जनरल ने लाला जी से पूछा।

"नहीं, पर शायद वहां आपको अधिक सुविधा रहे। और तो कोई बुकिंग है नहीं यहां से। आप उधर चले जाएंगे तो मैं नीचे आ जाऊंगा।"

"आप खुलवाइए बिस्तर !" एडवोकेट-जनरल ने अपने सहायकों से, जो तनिक रुक गए थे, किंचित् आदेश-भरे स्वर में कहा, "जो डिब्बा पीछे से बन्द आ रहा है, वो यहां खुल ही जाएगा, इसका क्या भरोसा है !"

मैं डिब्बे में चला आया था कि लालाजी से कुछ कारबार का हाल

पूछूं, लेकिन एडवोकेट-जनरल की बात सुनते ही अपने शरीर से लगभग मुझे एक ओर धकेलते हुए लाला जी तावड़तोड़ बाहर निकले। उन्होंने स्वयं गाड़ी देखनी शुरू की। साथ वाली बोगी में ही एक डिब्बा बन्द था, खिड़कियों के शीशे चढ़े थे। लाला जी ने दरवाज़े का हैण्डिल घुमाया। अन्दर से बन्द था। एक-आध धक्का दिया, पर खुला नहीं।

तब वे फिर भागे-भागे खन्ना के पास गए।

"मेरे पेट में दर्द है, मुझे रात को दो-चार बार उठना पड़ेगा।" उन्होंने कहा, "वह डिब्बा खुलवाइए। वर्मा तो वहीं आराम से बिस्तर बिछवा रहे हैं।"

"मैंने तो स्टेशन मास्टर को सूचना दे दी थी," खन्ना बोला, "यहां से जिन लोगों की सीटें बुक्ड थीं, उन्हें पीछे से खाली आने वाली सीटों पर जगह मिल गई। और कोई पैसेंजर था नहीं, इसलिए शायद किसीने ध्यान नहीं दिया।"

और वह लाला जी के साथ आया। बन्द डिब्बे की खिड़कियों को उसने ठकोरा, दरवाज़े का हैण्डिल घुमाया; लाला जी ने स्वयं बढ़कर ज़ोर की एक लात किवाड़ पर जमाई, लेकिन दरवाज़ा नहीं खुला। "इसका शायद ताला बन्द है।" खन्ना बोला, "आपको तो सीट मिल गई है, आप जाकर आराम से लेटिए।"

'मेरे पेट में दर्द है", लाला जी बोले, "मैं बार-बार उतर-चढ़ नहीं सकता। यह डिब्बा यहां खुलना चाहिए।" और वे सुभाष की ओर पलटे और उन्होंने आदेश दिया—"सुभाष भागकर गार्ड को बुला लाओ और डिब्बा खुलवाओ।"

सुभाष भागा। लाला जी ने कुली बुलाया और मुझसे कहा कि ज़रा सामान उतरवा लो और स्वयं डिब्बे में जाकर सुराही उतार लाए।

गार्ड ने आकर दरवाज़े में चाबी घुमाई। "ताला तो खुला है।" उसने कहा।

तब लाला जी ने बढ़कर फिर हैण्डिल घुमाया और फिर ज़ोर की एक लात दरवाज़े पर जमाई। दरवाज़ा टस से मस नहीं हुआ।

"यह अन्दर से बन्द है।" खन्ना ने कहा।

लाला जी खिड़की की ओर आए। सुभाष से उन्होंने कहा कि पिछली तरफ से जाकर दरवाज़ा खोले।

डिब्बे में बिलकुल अंधेरा था। कुछ भी नज़र न आ रहा था। खिड़की के शीशे से उन्होंने मुंह लगाया तो उन्हें वहां स्टेशन का प्रतिबिम्ब दिखाई दिया। किंचित् पीछे हटकर उन्होंने फिर देखने का प्रयास किया तो उन्हें अपनी ही धुंधली-सी शकल दिखाई दी।

लेकिन लाला जी यों हार मानने वाले नहीं थे। उन्होंने जेब से चाबी निकालकर मेरी ओर फेंकी और बोले कि ज़रा सूटकेस से टार्च निकालो और स्वयं खिड़कियों पर दोनों हाथ से मुक्के मारने लगे।

अन्दर किसीने सुन-गुन नहीं दी। तभी सुभाष ने आकर बताया कि उधर भी दरवाज़ा बन्द है और खिड़कियों के शीशे चढ़े हुए हैं।

कुली सूटकेस बाहर रख गया था, मैंने सूटकेस खोलकर टार्च निकाली और लाला जी के हाथ में दे दी। तब टार्च की रोशनी में पता चला कि नीचे सब सीटें ख़ाली हैं, बीच का पंखा चल रहा है और सामने ऊपर की सीट पर कोई व्यक्ति एकदम नंग-धड़ंग सो रहा है।

और तब धड़ाधड़ दरवाज़ा और खिड़कियां पीटी जाने लगीं। आग की तरह यह ख़बर चारों तरफ़ फैल गई कि फ़र्स्ट-क्लास के डिब्बे में कोई आदमी नंग-धड़ंग सोया है, और ख़ासी भीड़ डिब्बे के आगे जमा हो गई है। एडवोकेट-जनरल भी अपने डिब्बे से उतर आए और भीड़ से ज़रा हटकर प्रकट अपने साथियों से बात करने लगे, पर एक आंख उनकी तमाशे पर थी। और कोई पेश चलती न देख, लाला जी ने टार्च की रोशनी उस व्यक्ति पर टिका दी। जब शोर बढ़ता ही गया तो वह आदमी बड़े इत्मी-नान से उठा और उसने एक खिड़की का शीशा नीचे गिरा दिया—बढ़ी हुई दाढ़ी, उलझे हुए बाल और शरीर पर परतों मैल।

"क्यों पागलों की तरह शोर मचा रहे हो!" उसने रोब से कहा, "डिब्बा रिज़र्व्ड है।"

"दरवाज़ा खोलो!"

"दरवाज़ा खोलो!"

"दरवाज़ा खोलो!"

एक साथ लाला जी, गार्ड और खन्ना चिल्लाए।

पागल ने उनकी तरफ़ कोई ध्यान नहीं दिया। आराम से निचली सीट पर बैठकर उसने एक ज़ोर की जम्हाई ली। फिर टांग पर टांग रखकर लेट गया। तभी भीड़ में से किसीने चाय का ख़ाली कुल्हड़ खींचकर पागल को दे मारा। तब न जाने कहां से लोग चाय के कुल्हड़ ला-लाकर उसको मारने लगे। पागल के तो एक-आध ही लगा, जिसका कोई नोटिस नहीं लिया, पर ज़ोर से खींचकर मारे गए कुल्हड़ का टुकड़ा खिड़की की सलाख़ से टूट-कर एडवोकेट-जनरल के मुंह पर जा लगा। तब उन्होंने लोगों को समझाया कि कानून को अपने हाथों में न लीजिए। पुलिस को बुलाइए। कहीं घपले में पड़ जाइएगा। आपको क्या मालूम है कि यह आदमी पागल है। अगर महज़ कोई शराबी हुआ तो?···और उन्होंने कानून की कई धाराएं गिना डालीं कि ईंट-पत्थर मारना ग़ैर-कानूनी है!

भीड़ का जोश क्षण-भर को थमा तो गार्ड को अपने कर्तव्य की याद आई। उसने लाला जी से कहा कि आप किसी दूसरे डिब्बे में सामान रखिए, गाड़ी लेट हो रही है। तब लाला जी ने उन्हें शुद्ध अंग्रेज़ी में एक छोटा-सा लेक्चर पिला दिया कि वे फ़र्स्ट-क्लास पैसेंजर हैं। दूसरे डिब्बे में केवल ऊपर की सीट ख़ाली है। उनके पेट में तकलीफ़ है। ऊपर की सीट पर सोने में उन्हें और दूसरे पैसेंजरों को बड़ी असुविधा होगी। रेलवे का फ़र्ज़ है कि डिब्बा खुलवाया जाए और उन्हें नीचे की सीट दिलाई जाए।

लोग पागल के सम्बन्ध में तरह-तरह के क़यास दौड़ा रहे थे। कुछ लोग एडवोकेट-जनरल से सहमत थे कि वह पागल नहीं, शराबी है। कुछ लोगों का ख़याल था कि वह कोई नम्बरी बदमाश है और बेटिकट सफ़र करने का यह ढंग उसने निकाला है···सबके सब दरवाज़ा खुलवाने की तरकीबें भिड़ा रहे थे। शोर मचा रहे थे। धमकियां दे रहे थे। लेकिन पागल बड़े इतमीनान से टांग पर टांग रखे लेटा हुआ था। तब सुभाष को न जाने क्या सूझी कि उसने सहसा खिड़की की सलाखों से मुंह लगाकर कहा, "ऊपर की सीट उठा दो नहीं दरवाज़ा खुल जाएगा।"

पागल उठा और उसने ऊपर की सीट उठाने की कोशिश की।

"नहीं, नहीं," सुभाष बोला, "सीट मत उठाओ, वह कोने का बटन

दबा दो। फिर कोई दरवाज़ा नहीं खोल सकता।"

और पागल ने बटन दबा दिया। गाड़ी में रोशनी हो गई।

तब लोगों के उत्साह का ठिकाना न रहा। सबने कोशिश की कि पागल किसी तरह दरवाज़े की चिटखनी खोल दे। हर तरह घुमा-फिरा-कर कहा गया, लेकिन पागल ने और सब किया—एक-एक करके डिब्बे की सब बत्तियां जला दीं, पंखा बन्द कर दिया, ऊपर की सीटें उठा दीं—लेकिन चिटख़नी नहीं खोली।

तब लाला जी ने उसकी ख़ुशामद की। कहा कि उनके पेट में सख़्त दर्द है, उसकी बड़ी मेहरबानी होगी यदि वह दरवाज़ा खोल देगा।

पागल ने उनकी इसख़ुशामद परकोई ध्यान न दिया तो उन्होंने सहसा जेब से एक रुपये का नोट निकालकर उसकी ओर बढ़ाया और कहा कि दरवाज़ा खोल दो, रुपया मिलेगा।

पागल ने कनखियों से नोट की ओर देखा। फिर हाथ उस ओर बढ़ा दिया।

लालाजी ने सोत्साह नोट आगे बढ़ाया। पागल ने नोट ले लिया, दोनों हाथों में गोल कर, उसका सिगरेट बनाया, होंठों में रख लिया और मज़े में लेटा-लेटा कश खींचने लगा।

भीड़ ने एक ठहाका लगाया। लालाजी खिन्न होकर उसे गालियां देने लगे।

गाड़ी लेट हो रही थी। गार्ड ने सीटी दी और लालाजी से कहा कि वे अपना सामान रखें, वह और नहीं रुक सकता। और वह अपने डिब्बे की तरफ़ बढ़ा।

बकते-झींकते लालाजी ने कुली को सामान पहले वाले डिब्बे में रखने का आदेश दिया। अभी सामान पूरी तरह रखा भी नहीं गया था कि गार्ड ने दूसरी सीटी दी। लालाजी उचककर डिब्बे में चढ़े। सुभाष ने उन्हें सुराही दी ही थी कि गाड़ी चल दी।

लाला जी बेहद असन्तुष्ट थे। वे कोई चीज़ चाहें और वह न हो, यह उन्हें कभी सहन न हुआ था। आज़ादी से पहले अंग्रेज़ का राज था तब भी

उनके उचित-अनुचित सब काम हो जाते थे और अब जब देश का शासन गांधी जी के परम भक्तों के हाथ में था, उन्हें किसी तरह की कठिनाई न होती थी।—'तेल-तमा जिसको मिले, तुरत नरम हो जाए'—पुश्त-दर-पुश्त गुरु-मन्त्र की तरह चली आने वाली पुरखों की इस उक्ति पर लालाजी को भगवान से भी ज़्यादा विश्वास था। लेकिन पागल पर न खुशामद का कुछ असर हुआ था न लालच का। सहसा रेंगती गाड़ी में से उन्होंने सुभाष को बुलाकर उसके कान में धीरे से कहा, "जिस तरह डिब्बे की बत्तियां जलवाई हैं, उसी तरह ज़ंजीर खिंचवा दो।"

सुभाष भागकर पागल वाले डिब्बे के पास गया और गाड़ी अभी प्लेटफार्म से पार भी न हुई थी कि खड़ी हो गई।

गाड़ी रुकते ही पागल के डिब्बे के सामने फिर भीड़ लग गई। सबसे पहले लाला जी वहां पहुंचे। उनकी आकृति पर उल्लास फूटा पड़ता था। तभी लपके हुए गार्ड और स्टेशन के दूसरे बाबू भी वहां पहुंच गए। तब लाला जी ने गार्ड को सुनाकर कहा, "यह तो अच्छा हुआ कि इसने स्टेशन पर ही ज़ंजीर खींच दी। अगर कहीं जंगल में गाड़ी रोक देता तो!"

अब के लालाजी की बात निशाने पर बैठ गई। गार्ड ने गाड़ी आगे ले जाने से इनकार कर दिया। पुलिस बुलाई गई, खिड़की की सलाखें तोड़ी गईं और पागल को बाहर निकाला गया। तभी जब पुलिस पागल को पीटने लगी, लोग तरस खाकर उस ग़रीब को छुड़ाने और गार्ड तथा स्टेशन-मास्टर गाड़ी लेट होने का कारण लिखने-लिखाने में व्यस्त थे, लाला जी फिर कोई कुली पकड़, अपना सामान उतरवा लाए। सुभाष कुली की मदद से नये डिब्बे में सामान रखवा रहा था कि पागल ने चिल्लाकर कहा, "मैंने कोई जुर्म नहीं किया। फर्स्ट-क्लास के ख़ाली डिब्बे में अकेला सफ़र कर रहा था, अन्दर से दरवाज़ा न बन्द किए रखता तो कोई डाकू न घुस आता!"

भीड़ ने ज़ोर से ठहाका लगाया, लेकिन लाला जी का रंग सहसा फ़क हो गया।

"सुभाष, इस डिब्बे में सफ़र नहीं करेंगे!" सहसा वे चिल्लाए, "सामान उसी डिब्बे में ले चलो।"

और वे स्वयं डिब्बे में चढ़कर सामान बाहर निकालने में मदद करने

लगे ।

अभी सामान पूरी तरह पहले डिब्बे में वापस न रखा गया था कि गाड़ी चल दी । लाला जी सामान रखवाते, गाड़ी के साथ-साथ चलते जा रहे थे ।

पुलिस वाले पागल को घसीटते हुए स्टेशन-मास्टर के कमरे की ओर ले जा रहे थे और स्टेशन-मास्टर हवा में हाथ हिला-हिलाकर चिल्ला रहा था कि वह उस वक्त तक उसे नहीं छोड़ सकता, जब तक डाक्टर यह सर्टिफिकेट न देगा कि यह आदमी पागल है—गाड़ी के इतना लेट होने की ज़िम्मेदारी तो आखिर उसीकी है ! तभी लाला जी को गाड़ी के साथ-साथ घिसटते देखकर पागल ने कहा, "कैसा पागल है ! इसको इतना भी पता नहीं था कि फ़र्स्ट-क्लास के डिब्बे में अकेले सफ़र नहीं करना चाहिए । मैं न बताता तो यह मेरी तरह लुट जाता ! ···देखिए," उसने सिपाहियों और स्टेशन मास्टर की ओर संकेत करते हुए भीड़ से फ़रियाद की, "इन डाकुओं ने एक कपड़ा भी तो मेरे तन पर नहीं रहने दिया ! "

तभी गाड़ी ने स्पीड पकड़ी । खाली डिब्बे का दरवाज़ा खट्ट-से बन्द हो गया, लाला जी बड़े हास्यास्पद ढंग से उचककर अपने डिब्बे में सवार हो गए और पागल ने ज़ोर का ठहाका लगाया ।

१९६०

अजगर

रोज़ की तरह वह सवेरे बड़े नार्मल ढंग से उठता है। आंखें खुलने के बाद चारपाई पर देर तक पड़ा लेटा रहता है। गत सांझ के आंधी-पानी के कारण सुबह बड़ी प्यारी हवा रमक रही है। बंगले के बाहर, सड़क के उस पार, पीपल का एक बृहदाकार पेड़ सारे आकाश को ढके है। उसके पीछे दूधिया सवेरा उग रहा है और उसके निर्मल प्रकाश में पेड़ का एक-एक पत्ता कांपता दिखाई देता है। सेमल की रुई का तकिया दोहराकर वह सिर के नीचे रख लेता है और अलस भाव से एकटक पीपल के पत्तों को कांपते देखता है। वह दो-एक बार अलग-अलग दिखाई देने वाले पत्तों को गिनने का भी प्रयास करता है। फिर यह काम असम्भव और मूर्खतापूर्ण जान, मन ही मन हंसकर छोड़ देता है।

तभी अख़बार वाला उस दिन का अख़बार फेंक जाता है। वह उठकर अखबार पढ़ने लगता है। और जैसा कि इधर, सहयोगी संस्थान के अन्तर्गत साप्ताहिक निकालने की बात चलने के बाद, वह करने लगा है, मन ही मन प्रधान मंत्री से लेकर नगरपालिका के मुख्याधिकारी तक सबकी आलोचना करता है। चौथे पृष्ठ पर अग्रलेख के साथ छपने वाले विशेष लेखों में भाषा और भावों की गलतियां निकालता है और अख़बार के मालिकों पर तरस खाता है, जिन्हें मालूम नहीं कि इतना शक्ति-सम्पन्न पत्रकार इसी नगर में है और वे उसकी सेवाओं का कोई उपयोग नहीं कर रहे···फिर चूंकि कल्पना करना इधर वर्षों से उसकी आदत हो गई है, जब जैसी धुन हो वह

कल्पना करने लगता है—कभी महान् कवि बनता है, कभी कथाकार और कभी सम्पादक—इसलिए अखबार पढ़ना छोड़कर, वह कल्पना करने लगता है कि उसे पत्र का सम्पादन सौंप दिया गया है और मन ही मन वह उन परिवर्तनों की रूपरेखा बनाता है जो अन्य पत्रों की तुलना में वह अपने पत्र में करने वाला है—लेख-मालाओं के शीर्षक और उपयुक्त लेखों की सूचियां वह बना डालता है।···

उसे पता नहीं चलता कब उसकी पांच बरस की बच्ची चुपचाप उठकर दबे पांव आती है और उसकी पीठ पर चढ़कर झूलने लगती है। वह उसी अलस भाव से काफ़ी देर तक उसे झुलाता रहता है। उसकी तुतली बातें सुनता रहता है। फिर वह उसे कंधे पर उठाए आंगन में लाता है और वहां उतारकर नित्य कर्म से निबटने चला जाता है।···थर्मस में एक डली बर्फ़ पड़ी है। भाभी रोज़ की तरह उसके लिए मठे का बड़ा गिलास बनाती है—बिल्कुल बाज़ार के हलवाई की तरह—और उसकी मलाई पर केवड़ा छिड़क देती है। नित्य कर्म से निबट वह मठे का गिलास पीता है और तृप्त होकर डकार लेता है। फिर भाभी के बने हुए पान तश्तरी से उठा, उनकी गिलौरियां बनाकर मुंह में रख लेता है। तभी मुन्नी को तैयार करती हुई उसकी पत्नी कहती है, "मुझे आशा है, प्रिंसिपल मेरा आवेदन स्वीकार कर लेंगी।"···वह बिना उसकी बात पर ध्यान दिए बाहर जाकर पान के पहले रस को थूकता है और उसी अलस भाव से अपने कमरे में आकर तख्त पर पसर जाता है।

वहीं लेटे-लेटे, पान का रस मज़े से पगोलते हुए वह मुन्नी को कान्वेंट जाते देखता है। अपनी पत्नी को कालेज जाते देखता है। भाई साहब को दफ़्तर जाते देखता है। फिर मठे की गनोदगी और दिन की उमस के कारण वह आंख बन्द कर लेता है।···अनायास पत्नी की बात उसके दिमाग़ में कौंधती है। उसने आवेदन-पत्र दे रखा है कि यदि उसे होस्टल में निवास की सुविधा दी जाए तो वह ऑनरेरी वार्डनर की ड्यूटी भी देगी। उसे आशा है कि उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली जाएगी।···हमेशा की तरह जब उसके पास करने को कुछ नहीं रहता और उसकी पत्नी घर छोड़ देने का संकेत करती है, उसके सामने शुरू के जीवन की झांकियां आने लगती

हैं। इधर कुछ ज़्यादा ही आने लगी हैं, क्योंकि उसकी पत्नी ने नौकरी कर लेने के बाद न केवल कुछ अधिक रंग निकाल लिया है वरन् वह घर छोड़ देने पर भी कुछ ज़्यादा ही ज़ोर देने लगी है।

अजीब बात है कि वह उसे अच्छी लगने लगी है। अभी वह उसके सामने से होकर कालेज गई है तो रोज़ की तरह वह उसे क्षण-भर देखता रह गया है—गेहुंआ चेहरा, किंचित् मोटी नाक, ऊपर की दंत-पंक्ति ज़रा आगे को निकली हुई, सामने के दांतों के बीच संध और मोटे होंठ—सब कुछ वही है, सुहागरात में जिसे देखकर उसे सोलह वर्ष पहले घोर वितृष्णा हुई थी और वह गांव से भाग आया था और कौवे की चोंच में आ फंसने वाले निरीह केंचुए की तरह भाई साहब के चंगुल में फंस गया था।··· उसके सामने सोलह वर्ष पहले का अपना रूप आ जाता है। पतला-छरहरा, गोरा-चिट्टा, अत्यन्त सुन्दर और सुकुमार—चौड़ा माथा, तीखी सुतवां नाक, नुकीला चेहरा, नाज़ुक हाथ-पांव—जाने यूनिवर्सिटी की कितनी लड़कियां, लड़कियां ही नहीं, लड़के भी उसपर मरते हैं। कभी जब वह अपनी लोच-भरी आवाज़ में 'हिरनियां' का गीत गाता है तो (उसके एक मित्र ने ऐसा स्वीकार किया है।) सुनने वालों के दिल धड़क उठते हैं।···इसी लोकगीत के कारण भाई साहब से उसका परिचय होता है।···उसकी आंखों में वह दृश्य ऐसे आ जाता है जैसे कल घटा हो—वह गांव से भाग आया है। विश्वविद्यालय में उसने रिसर्च में नाम लिखा लिया है। होस्टल में एक मित्र के साथ टिका है। खर्च चलाने को वह रेडियो स्टेशन पर आडीशन देने आया है। स्टुडियो नम्बर ३ में माइक के आगे बैठा वह यही गाना गा रहा है। भाई साहब एक वार्ता देने आए हैं। वे वार्ता-कक्ष के शीशों से लगातार उसे देखते रहते हैं। दो-एक बार उसकी निगाहें उनसे मिलती हैं। वे अपनी वार्ता रिकार्ड कराके उसी स्टुडियो में आ जाते हैं। उसका गाना सुनते हैं। गीत के दर्द से अभिभूत हो अपनी आंखें पोंछते हुए उसकी पीठ ठोंकते हैं। उसे साथ ले जाकर स्टेशन डायरेक्टर से मिलवाते हैं। वे उससे उसका अता-पता पूछते हैं। फिर उसके शौक-वौक के बारे में प्रश्न करते हैं। वह बताता है कि काव्य और कथा-लेखन में उसकी समान रुचि है। पर अभी वह रिसर्च करेगा। डिग्री लेकर कहीं अध्यापक हो जाएगा और

तब ज़िन्दगी को साहित्य-साधना में लगाएगा। इस वक्त तो खर्च चलाने को उसे काम की तलाश है।···वे उसे अपने पत्र के लिए लेख लिखने को कहते हैं और सलाह देते हैं कि जब तक उसे कमरा नहीं मिलता, वह उनके बंगले में आ जाए। उनके कोई बच्चा नहीं। मियां-बीवी दो प्राणी हैं। वे एक कमरा उसे दे देंगे। खाने-पीने की उसे कठिनाई नहीं होगी।···और दूसरे दिन वे होस्टलसे उसका सामान लदवाकर उसे अपने यहां ले आते हैं।

वह उनकी पत्नी को देखता है। वह उनसे उम्र में पन्द्रह वर्ष छोटी है। ठिगनी, गोरी, गदराई और सुबक। वह उसे अपनी समवयस्क लगती है। 'यह इस खूसट को कहां से मिल गई ?' वह मन ही मन सोचता है। लेकिन प्रकट वह उसे दोनों हाथ जोड़कर 'नमस्कार' करता है। भाई साहब उसे 'बचवा' के लिए चाय बनाने को कहते हैं और उसे उसका कमरा दिखाते हैं। तख्त पर उसका बिस्तर बिछवा देते हैं। आलमारी में उसकी किताबें लगवा देते हैं। तख्ती और कागज़ एक ओर लगी मेज़ पर सज़ा देते हैं। सूटकेस अन्दर भिजवा देते हैं। स्वयं आरामकुर्सी पर बैठ जाते हैं। और जैसे उसके मन की बात भांप कर बताते हैं कि कैसे जब राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने और बार-बार स्वराज्य मन्दिर बसाने में उनकी जवानी होम हो गई, तो उन्होंने तय किया था कि अब विवाह नहीं करेंगे। बाक़ी जीवन देश-सेवा में ही गुज़ार देंगे। वे चाहते तो मिनिस्टर हो जाते, पर उन्हें स्वतन्त्र रहना प्रिय है, इसलिए उन्होंने पत्र का सम्पादक बनकर अपनी स्वतन्त्रता बरकरार रखी। तभी एक दिन मुख्यमन्त्री ने उन्हें फ़ोन किया। वे गए तो उन्होंने इनका हाथ उनके हाथ में दे दिया। इनके पिता प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता थे। मां इनकी पहले ही परलोक सिधार गई थीं। सहसा पिता का देहांत हो गया। वे मुख्यमन्त्री के मित्र थे। मरते समय वे अपनी इस कन्या और उसके भविष्य को मुख्यमन्त्री के हाथों सौंप गए थे।···वे मुख्यमन्त्री की बात कैसे टालते ? इसलिए उन्होंने शादी कर ली। बच्चा नहीं है। इसीका उन्हें खेद है। और यह सब सुनाकर वे आश्वासन देते हैं कि वह आराम से रहे। इस घर को अपना ही समझे···तभी चाय आ जाती है और वे समझाते हैं कि कैसे उसे अपना कार्यक्रम बनाना चाहिए। रिसर्च करने के साथ-साथ न केवल उसे अपना कविता का शौक़ पूरा करना

चाहिए, बल्कि कहानियां और नाटक लिखने चाहिएं। वे उसे शहर के साहित्यिक हलके में ले जाएंगे, उसकी पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था कर देंगे। वे समय से शादी करते तो उनका लड़का उसकी उम्र का होता··· और वे लम्बी सांस भरते हैं।···चाय के समय भाभी भी आकर बैठ जाती हैं। उसकी ओर बड़ी सतृष्ण निगाहों से देखती हैं। वे अपनी पत्नी से कहते हैं कि उसे अपना बच्चा ही समझें और उसका ख़याल रखें।···वे चले जाते हैं और भाभी बैठी उसके घर-द्वार की बातें पूछती रहती हैं और जाने उसे क्या होता है, वह अपनी सारी ट्रेजिडी उनके सामने रख देता है···

वह करवट बदलता है। एक के बाद एक, कई चित्र उसकी बन्द निद्रालस आंखों में आते हैं: भाभी उसे सामने बैठाकर खाना खिला रही हैं। भाभी उसका बिस्तर बिछा रही हैं। भाभी उसके कपड़े धो रही हैं। भाभी स्वयं उसका कमरा साफ़ कर रही हैं। वह पानी मांगता है तो भाभी स्वयं भागी-भागी पानी का गिलास लाती हैं। रात को बड़े प्यार से उसके बालों पर हाथ फेरते हुए, जगाकर उसे दूध का गिलास पिलाती हैं···वह रिसर्च करना छोड़ देता है—'दादूदयाल और उनका काव्य' यह विषय उसे निहायत बोर लगता है। विश्वविद्यालय के अध्यापक उसे और भी बोर लगते हैं।···वह कविता करने लगता है। भाभी को सुनाता है। वे उसका उत्साह बढ़ाती हैं। भाई साहब उसे शहर के सभी साहित्यकारों से मिलाते हैं। वह गोष्ठियों में जाता है। भाई साहब के पत्र में वह बाकायदा शहर की साहित्यिक गतिविधि पर कालम लिखता है। वे उसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं। दो-एक बार स्नेह से उसे अंक में भर कर उसका माथा चूम लेते हैं।···भाभी उसके बिस्तर पर बैठी हैं। उससे अनुरोध करती हैं कि वह लोकगीत सुनाए। "ये कहते हैं, बचवा बहुत बढ़िया गाते हैं। हमको तो एक गाना भी कभी नहीं सुनाया।" वे निहोरा देती हैं। वह नखरा करता है। भाभी उसका हाथ अपने दोनों हाथों में लेकर अनुनय करती हैं। आखिर वह शर्त रखता है कि भाभी सुनाएंगी तो वह भी सुनाएगा। भाभी कहती हैं—"पहले हमने कहा है, इसलिए पहले तुम ही सुनाओ, फिर हम सुना देंगे।" आखिर वह मान जाता है। भाभी की गोद में सिर रखे लेट जाता है और गाना सुनाता है। भाभी अभिभूत होकर

उसका माथा चूम लेती हैं—"तुम्हारे कंठ में तो अमृत है, भइये," वे कहती हैं।...उनके होंठों में कुछ ऐसी गर्मी है कि उनका रंग लाल हो जाता है और अंग तन जाते हैं। वह उठकर बैठ जाता है और भाभी से गाना सुनाने का अनुरोध करता है। भाभी एक बड़ा चुलबुला गाना सुनाती हैं:

कैसी चतुर भौजाई रे
मन लागा देवर से
धीरे से खिड़की खोल रे देवरा
जाग न जाय तोर भाई रे
मन लागा देवर से

और पूरा गाना सुनाकर वे ज़ोर से ठहाका मारती हुई उठ खड़ी होती हैं। वह उन्हें बैठने को और एक गाना और सुनाने को कहता है पर वे नहीं बैठतीं। हंसती हुई भाग जाती हैं...

और तभी जब वह बड़े मज़े से दिन गुज़ार रहा होता है और जैसाकि अंग्रेजी में कहते हैं—'दुनिया के शिखर पर बैठा होता है' कि वह घटना घटती है जो सदा उसे केंचुआ-सा बना जाती है। हमेशा उसकी गनोदगी दूर कर देती है और जिसे दिमाग़ से धो देने का प्रयास करने पर भी वह इन चौदह-पन्द्रह वर्षों में धो नहीं सका...वह भाभी के साथ लेटा है और तृप्त हो, उसे अपने अंक में लिपटाए वे उससे सटी हैं। दोनों के कपड़े अस्त-व्यस्त हैं कि सहसा भाई साहब ऊपर से आ जाते हैं। भाभी तत्काल उठती हैं। साड़ी से सिर और बदन ढकती हुई कहती हैं, "भैया की तबियत ठीक नहीं है" और चली जाती हैं।...क्षण-भर वह हतप्रभ-सा लेटा रहता है। न हिलता है, न डुलता है। लेकिन भाभी की बात सुनते ही वह दीवार की ओर को मुंह कर लेता है, जैसे सचमुच बीमार हो। भाई साहब कुछ क्षण अस्त-व्यस्त धोती में झलकते उसके गोरे अंगों को देखते रहते हैं। फिर वे उसकी चारपाई पर अध-लेटे हो बैठते हैं। उसके बालों को, उसके शरीर को सहलाते हुए पूछते हैं कि अब कैसी तबियत है। वह उनसे आंख नहीं मिला पाता। दीवार की ओर को मुंह किए निश्चल लेटा रहता है। वे उसका बदन सहलाने और उसके साथ लेटते हुए न जाने क्या बोले जाते हैं। अपने अंग उसके अंग से घिसाए जाते हैं। उसके जी में आता है, पलटकर

उन्हें चारपाई से नीचे गिरा दे। पर अपराध-भाव से एकदम सुन्न हो वह लेटा रहता है--कहीं चप्पल उठाकर वे उसे पीटना शुरू कर दें तो।···और इससे पहले कि वह कुछ और सोचे या करे, वे उसकी गर्दन के पिछले हिस्से को, कानों की लवों के नीचे, चूम लेते हैं, उसे अपनी बांहों और जांघों में कस लेते हैं। लेकिन वे देर नहीं लगाते। एक बार उसे ज़ोर से कसकर वे ढीले पड़ जाते हैं···उसे कुछ अजीब-सी चिपचिपाहट का एहसास होता है। और उसे पुचकारते हुए वे हट जाते हैं···अनायास वह पलटकर रुआंसा हो जाता है।···

वह उठकर बैठ जाता है। पिछले चौदह-पन्द्रह वर्षों में यद्यपि इस घटना पर काफ़ी धूल-गर्द पड़ गई है, पर जब-जब वह उसे याद आती है, क्षण-भर के लिए उसे लिजालिजा केंचुआ-सा बना जाती है और भाई साहब के विरुद्ध एक दुर्वार क्रोध उसके मन में ज्वाला-सा लपक उठता है। ···अगर वह भाभी के साथ उस अस्त-व्यस्त स्थिति में न पकड़ लिया गया होता तो क्या वे कभी साहस कर सकते? यद्यपि यूनिवर्सिटी में लड़कों का खयाल था कि वह पहले से भी ऐसे करवाता रहा है, पर उसने कभी किसी गुण्डे को इस हद तक बढ़ने नहीं दिया था।···उसके सामने फिर वही चित्र आ जाता है—अपने कपड़े ठीक-ठाक करके भाई साहब एकदम उठ खड़े होते हैं। उसके कपड़े ठीक कर देते हैं। उसे प्यार करते और उसके आंसू पोंछते हुए उससे माफ़ी मांगते हैं। और जेल में अपने लम्बे वर्षों का हवाला देते हुए बड़बड़ाए जाते हैं कि बड़े-बड़े नेताओं में यह कमज़ोरी होती है—सीज़र और एण्टनी जैसे महानयोद्धाओं में थी—'आम इन्सानी कमजोरी!' ···वे गांधी जी के भक्त हैं। अपनी इस कमज़ोरी पर विजय पाएंगे और जो चूक उनसे हो गई है, उसका पश्चात्ताप करेंगे और उस वक्त तक घर नहीं आएंगे, खाना नहीं खाएंगे जब तक वह उन्हें क्षमा नहीं कर देगा।···

और वे चले जाते हैं।

भाई साहब के जाते ही भाभी आती हैं। उससे पूछती हैं कि क्या हुआ, उन्होंने क्या कहा, वे ऐसे क्यों चले गए हैं, वह ऐसे क्यों लेटा है? पर वह होंठ नहीं खोलता। मर्माहत-सा चुप लेटा रहता है।

तब भाभी उसके पास बैठ जाती हैं। उसे तसल्ली देती हैं कि वह डरे

नहीं। वे कोई ऐसा-वैसा क़दम नहीं उठाएंगे। वे साहस नहीं कर सकते। वे उन्हें छोड़कर चली जाएंगी।···वे तो उन्हें कभी भी छोड़कर चली जातीं, पर मुसीबत के वक्त में उन्होंने हाथ पकड़ा था। वे उन्हें परेशान नहीं करना चाहतीं। लेकिन यदि इस सिलसिले में उन्होंने कुछ भी किया—कुछ भी—तो वे घर छोड़ देगीं, फिर जन्म-भर उसे भीख ही क्यों न मांगनी पड़े।···वह कुछ नहीं कहता। न हां करता है न ना। बस चुप बना रहता है···तब वे सहसा पूछती हैं, 'कुछ छेड़ा-वेड़ा तो नहीं उन्होंने? उन्हें कुछ आदत है—कभी-कभी वे बहक जाते हैं।···' वे उसकी आंखों में झांकती हैं और उसे तसल्ली देती हैं कि वह घबराए नहीं।···वे उसे कुछ नहीं कहेंगे। कुछ नहीं करेंगे। कुछ करने योग्य वे हैं ही नहीं। वह फिर भी चुप रहता है। केवल अपनी दयनीयता पर उसकी आंखें भर आती हैं। भाभी उसे बांह में लेकर अंक से लगा लेती हैं और तसल्ली देती हुई बार-बार चूमती हैं। उनका हर चुम्बन पहले से गर्म होने लगता है।

"नहीं, कुछ नहीं।" वह सिर को ज़रा-सा झटका देकर रुखाई से इतना ही कहता है और सहसा भाभी की बांहों के घेरे से निकल, उछलकर उठता है और तौलिया लेकर नहाने चला जाता है। नल ऊंचा है। वह उसे पूरा खोलकर उसके नीचे बैठ जाता है।—क्या वे उसे इसीलिए होस्टल से घर लाए थे? एक दुर्वार क्रोध से पानी की धार के नीचे उसका तन-मन जल उठता है। वह नल बन्द कर देता है। ज़ोर-ज़ोर से शरीर पर साबुन मलता है।···उसके कानों में भाभी के वाक्य गूंज जाते हैं—"वे कुछ नहीं करेंगे। कुछ करने के योग्य वे हैं ही नहीं।" वह ज़ोर-ज़ोर से अपना बदन मलता है। साबुन की झाग उसके गोरे शरीर को ढक लेती है···और तभी वह लिजलिजा केंचुआ बढ़ना शुरू होता है और धीरे-धीरे ब्राज़िल के जंगलों का पाइथन बन जाता है—बोआ कन्स्ट्रिक्टर—भयानक अजगर, जो अपनी गुंजलकों में शेर बबर तक को पीस डालता है।—उसने शेर बबर को अपनी गुंजलकों में लपेटे बोआ कन्स्ट्रिक्टर का चित्र देखा है—वह अपने-आपको उसी अजगर के रूप में पाता है और अपने चंगुल में भाई साहब को, उनके सारे जीवन को ग्रस लेता है—उनकी पत्नी को, उनकी कमाई को। और मज़े से उन्हें इंच-इंच निगलता है।···वह

पानी की धार छोड़ देता है। उसके शरीर का सारा क्लेश धुल जाता है, मन का संताप दूर हो जाता है। उसे भाई साहब की निरीहता पर दया तक हो आती है। उसे विश्वास हो जाता है कि वे अब कभी उसे कुछ नहीं कह पाएंगे। कभी वैसी स्थिति में देख लें तो भी नहीं।···वह डर गया था···लेकिन अब डर की कोई बात नहीं।···वह ग्रस लेगा। उन्हें अपनी गिरफ़्त में पीस डालेगा।···वह देर तक नल के नीचे बैठा नहाता रहता है।

भाई साहब दो दिन घर नहीं आते। तन-मन की शुद्धि के लिए अनशन किए रहते हैं। तीसरे दिन वह भाभी को साथ लेकर उनके दफ़्तर जाता है, उन्हें घर ले आता है और परम उदारता से उन्हें क्षमा कर देता है।

वह फिर लेट जाता है। उसके दिमाग़ में अपनी पत्नी की बात कौंध जाती है—"मुझे वहीं होस्टल में क्वार्टर मिल गया तो मैं वही रहूंगी।" वह एक दिन कहती है। इधर जब से उसकी नौकरी लगी है, उसके पहरावे में, चाल-ढाल में, बोल-चाल में अंतर आ गया है।···आठ वर्ष तक वह पत्नी की सुध नहीं लेता। गांव जाता भी है तो उसके निकट नहीं फटकता। भाई साहब फिर उसे कभी तंग नहीं करते। बहुत स्नेह उसपर आता तो ज़्यादा से ज़्यादा वे उसके बालों पर हाथ फेर लेते हैं। अथवा झिझकते-झिझकते उसका मस्तक चूम लेते हैं। वह जो चाहता है कर देते हैं। उसे ज़रा-सा कष्ट, तनिक-सी चिन्ता नहीं होने देते। वह भाई साहब से रुपया लेकर घर तो भेज देता है, लेकिन पत्नी को नहीं बुलाता···और भाभी—वे उसकी मां भी हैं, भाभी भी, प्रेयसी भी और पत्नी भी।···वे उसे कभी-कभी कोंचती हैं, उसकी पत्नी का पक्ष लेकर बात करती हैं, पर वह टाल जाता है। वे भी कभी ज़ोर नहीं देतीं। हां, इस बात का ख़याल रखती हैं कि हर महीने कुछ रुपये और दिन-त्यौहार को कपड़े-लत्ते वह उसे भेजता रहे।

···तभी पड़ोस में नीति आ जाती है। वह राजनीति में एम० ए० है और कांग्रेस के आन्दोलन पर रिसर्च कर रही है और भाई साहब से मदद लेने आती है।···कभी जब भाई साहब नहीं होते तो वह उसके कमरे में

आ बैठती है। उसका कालम सुनती है। राजनीति पर उससे वहस करती है। उसकी कहानियां सुनती है। उसे ताने देती है कि वह सुस्त हो गया है। साल में तीन-चार कहानियां लिखकर कोई वड़ा लेखक नहीं वन सकता। उसे कालम वन्द कर देना चाहिए और अपना वक्त कहानियां और कविताएं लिखने में लगाना चाहिए।···उन दिनों वह सचमुच कई सुन्दर कहानियां और कविताएं लिखता है। नीति उसके ज़्यादा निकट आ जाती है। इतना कि उसे भाभी की उपस्थिति और नैकट्य खलने लगता है। लेकिन भाभी प्रतिवाद नहीं करतीं। वह नीति को उनके सामने अंक में भर लेता है। वे मुस्कराती रहती हैं। माथे पर शिकन नहीं आने देतीं। उसी तत्परता से उन दोनों को चाय पिलाती हैं। नाश्ता कराती हैं। दोनों से हंसी-मज़ाक करती हैं।···तभी गांव में उसके पिता वीमार हो जाते हैं। भाभी अनुरोध करके उन्हें देखने उसके साथ गांव जाती हैं और जाने कैसे क्या करती हैं कि आते-आते उसकी पत्नी को ले आती हैं।···उसे शिकायत थी कि पुष्पा सुशिक्षित नहीं, सुसंस्कृत नहीं, फूहड़ और देहातिन है। लेकिन जिस दिन से पुष्पा आती है, भाभी अपना सारा ज़ोर उसे पढ़ाने-लिखाने, सुघड़ और सुसंस्कृत वनाने में लगा देती है। स्वयं जाकर उसे महिला विद्यालय में दाखिल करा आती हैं। पुष्पा मैट्रिक करती है। पुष्पा एफ़० ए० करती है। पुष्पा बी० ए० करती है। पुष्पा बी० टी० कर लेती है। इस बीच नीति अपने-आप कट जाती है।···मुन्नी होती है तब भी भाभी उसकी पत्नी की शिक्षा में अंतर नहीं आने देतीं। मुन्नी का सारा काम अपने ज़िम्मे ले लेती हैं और सबसे ज़्यादा यह कि मुन्नी को मां की, और पति को पत्नी की कमी महसूस नहीं होने देतीं। पुष्पा के लिए भाभी सास और मां दोनों का कर्तव्य निभाती हैं···और अब पुष्पा इस घर को छोड़ देना चाहती है।···

वह फ़िर उठ बैठता है। उसे चाय पीने की इच्छा होती है। वहीं से वह भाभी को चाय लाने के लिए कहता है और दीवार पर लगे शीशे के सामने जा खड़ा होता है···उसके वालों में सफ़ेदी आ गई है। गाल किंचित् ढलक आए हैं। हां, नाक वही है, माथा वही है, आंखें वही हैं। उसे लगता है बुढ़ापा वक्त से पहले उसपर उतर आया है, जबकि सुबह उसे लगा था कि उसकी पत्नी जैसे नये सिरे से जवान हो गई है।···नीति के आने से

उसके काम में जो तेज़ी आई थी, वह उसके दूर हट जाने से अपने-आप कम हो गई है। कालम लिखना उसने कब का छोड़ दिया है, लेकिन नीति के हट जाने के बाद न वह कहानियां लिख पाया है, न कविताएं। अच्छी कहानी लिखने में जितनी मेहनत करनी पड़ती है, वह उससे नहीं होती और कविता का उसे स्फुरण ही नहीं होता। सुबह वह देर तक लेटा रहता है। फिर देर तक समाचारपत्र पढ़ता है। विज्ञापन तक पढ़ जाता है। फिर नित्य कर्म से निबट कर मठे का गिलास पीकर तख़्त पर पसर जाता है। कोई किताब उठा लेता है और ऊंघ जाता है। दोपहर को खाना खाकर दो घण्टे सोता है। शाम को उसकी बच्ची आ जाती तो उसके साथ खेलता है। बस रात को कुछ पढ़-पढ़ा लेता है। बच्ची को भाई साहब ने बाका-यदा गोद ले लिया है। इन दस-बारह वर्षों में उसने अपनी गुंजलक में पूरी तरह उन्हें जकड़ लिया है और वह परम इत्मीनान से अजगर की तरह पसरा हुआ है।···उसे कभी-कभी ख़याल आता रहा है कि उसके यदि लड़का होता और उसे भाई साहब गोद लेते तो कितना अच्छा होता।··· इसीलिए उसे पत्नी को पढ़ना-लिखना बुरा नहीं लगा। वह पत्नी के साथ चला जाएगा और मुन्नी को ले जाएगा, यह भय दिखाकर उसने अपने शिकंजे को इस घर पर और भी कस लिया है।···वह अपने-आप मुस्क-राता है। भाभी के कोई लड़का न हो जाए, उसने इस बात का कितना ख़याल रखा है···लेकिन उसके अपने भी लड़की ही हुई···और उसे अच्छा लगा था कि उसकी पत्नी ने नौकरी कर ली है···लेकिन वह यहां से जाना क्यों चाहती है? यहां उसे क्या कमी है? मुन्नी को वह कैसे छोड़ जाएगी? वह तो मुन्नी की शादी के बाद दामाद को भी घर में ही रखने की योजना बना रहा है और यह सब कुछ छोड़-छाड़कर चली जाना चाहती है···वह इसी सोच में डूबा हुआ है कि भाभी चाय ले आती हैं···"भइये, खाने का टाइम हो गया है, तुमने कहा तो मैं चाय लाई हूं।"

"अच्छा भाभी, चाय नहीं पीते, खाना खा लेते हैं।"

भाभी हंसती हैं—"नहीं, मन है तो पी लो। ज़रा ठहरकर खाना खा लेना।"

वह चाय पीता है और सोचता है कि उसे कोई काम करना चाहिए।

इस तरह ढीला छोड़ देने से तो उसका शरीर थुलथुला जाएगा। उसे सुबह कुछ कसरत करनी चाहिए। योगाभ्यास करे तो कैसा रहे ? वह उठकर आलमारी से ऋषि आश्रम, हरिद्वार, की कुछ पुस्तकें उठा लाता है और देर तक उनका अध्ययन करता है और अपने लिए कुछ योगासन चुनता है— वह सुबह जल्दी उठेगा। मालिश कराएगा। कसरत और योगासन करेगा और उसके शरीर में चीते की-सी लचक आ जाएगी।

भाभी उसका खाना ले आती हैं। खाना खाकर वह फिर तख्त पर पसर जाता है और एक बृहद उपन्यास की रूपरेखा बनाता सो जाता है। लेकिन उसे उपन्यास लिखने की ज़हमत नहीं उठानी पड़ती। सहसा बाहर बरामदे में शोर से उसकी आंखें खुल जाती हैं। वह तो भूल ही गया था, आज ही तो सहयोगी संस्थान की योजना को अंतिम रूप देने के लिए मीटिंग रखी थी। वह दरवाज़ा खोलकर आगत साहित्यिकों और पत्रकारों का स्वागत करता है और क्षण-भर को क्षमा मांगकर अन्दर जाता है। मुंह-हाथ धोता है। बाल बनाकर कपड़े बदलता है। भाभी से कहता है कि आठ-दस आदमी आए हैं, नाश्ते और चाय का प्रबन्ध कर दें। वह कहना भूल गया था और कुछ नहीं तो दो डिब्बे बिस्कुट मंगा लें।

वह अन्दर जाना चाहता है कि भाई साहब आते हैं। वे बड़े उत्साहित हैं : " 'सहयोगी प्रकाशन' की सारी स्कीम बन गई है। बस बचवा, तुम सुन लो और पास कर दो।" वे कहते हैं और उसके कंधे पर हाथ रखे वापस कमरे में आ जाते हैं।

दो-तीन घंटे जमकर मीटिंग होती है। चाय, दाल-सेव और नमकीन, मीठे बिस्कुटों का नाश्ता उड़ता है। भाई साहब सबको स्कीम समझाते हैं। उसपर तर्क-बितर्क और वाद-विवाद होता है। बीच-बीच में वह भी पते लगाता है। आख़िरकार योजना अन्तिम रूप पा जाती है। ग्यारह सदस्यों की सूची बनती है। वह मन्त्री चुना जाता है। तय होता है कि सब सदस्य एक-एक हज़ार रुपया डालें। कुछ सरपरस्त सदस्य बनाए जाएं, जो दो-दो शेयर लें। जितना रुपया इकट्ठा हो, उससे दस गुणा सरकार से लिया जाए। एक प्रेस लगाया जाए, एक साप्ताहिक निकाला जाए और साथ में प्रकाशन किया जाए। सरपरस्त सदस्य बनाने, संस्थान को रजिस्टर्ड कराने

और सरकार से रुपया लेने का सारा ज़िम्मा भाई साहब लेते हैं और जब दो घण्टे के तर्क-वितर्क के बाद सारी स्कीम पारित हो जाती है तो भाई साहब सबको लेकर चल देते हैं।

वह बरामदे में जाकर उन्हें विदा कर लौटता है तो उसका मन बड़ा उत्फुल्ल है। बृहद् उपन्यास उसके दिमाग से निकल चुका है, उसके बदले प्रेस और साप्ताहिक और प्रकाशन और बैंक बैलेंस और चेक बुकें और चार-चार अंकों के चेक आ जाते हैं और बड़े प्रसन्न अलस भाव से अन्दर जाता है।

सहसा उसे एक धक्का-सा लगता है और वह आसमान से ज़मीन पर उतर आता है। उसकी पत्नी (जो इस बीच कालेज से आ चुकी है) घर के धुले कपड़े तहाकर सूटकेस में सहेज रही है। अपने पति के खिले हुए मुख की ओर वह कोई ध्यान नहीं देती और सुते हुए चेहरे से कपड़े तहाए और उन्हें सूटकेस में रखे जाती है।

चौखट पर खड़े-खड़े क्षण-भर को उसकी निगाहें अपनी पत्नी के चेहरे पर जम जाती हैं—यद्यपि वह दिन-भर कालेज में पढ़ाकर आई है, पर उसके चेहरे पर ज़रा भी थकान का आभास नहीं। मुख पर हल्का-सा पाउडर, होंठों पर सुर्खी, आंखों में सुरमे की लकीर, चौड़े माथे पर बड़ी-सी उन्नाबी बेंदी, आधुनिक तरज़ का जूड़ा और चेहरे पर कुछ अजीब-सा दर्प —यह वह चेहरा नहीं, जिसे सुहागरात में देखकर उसे वितृष्णा हुई थी। यह तो अपने यार से मिलने को उत्सुक किसी युवती का चेहरा है···और वह सहसा फट पड़ता है:

"कहां की तैयारी हो रही है, पुष्पा जी ?"

पुष्पाजी पूर्ववत् कपड़े तहाए जाती है। उसका प्रश्न वे जैसे नहीं सुनतीं। आंख तक उठाकर नहीं देखतीं।

उसका उल्लास पत्नी की इस अवहेलना से हवा हो जाता है और उसके स्वर में विद्रूप आ जाता है, "पुष्पा जी, मैंने कुछ आपसे अर्ज़ किया है।"

सहसा पुष्पा जी झुके-झुके आंखें उठाती हैं—जाने उन आंखों में क्या है—अनुनय, आग्रह, हठ, किंचित् दुःसाहस, कद्रे बेबाकी—वे सिर्फ़ इतना कहती हैं, "मैं अब यहां नहीं रहूंगी।"

और आंख झुकाकर वे बड़े तन्मय भाव से कपड़े तहाने लगती हैं।

आगे बढ़कर वह पत्नी की पीठ थपथपाता है, "क्या बात है ?"

"मैंने आपसे सुबह ही कह दिया था कि यदि मुझे होस्टल में जगह मिल गई तो मैं चली जाऊंगी", पत्नी कहती है, "प्रिन्सिपल ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली है। उन्होंने मुझे आनरेरी वार्डन नियुक्त कर दिया है। निवास की सुविधा दे दी है। एक क्वार्टर मेरे नाम एलाट कर दिया है।"

"लेकिन···लेकिन···वहां फ़ेमिली तो नहीं रह सकती है।"

"रह सकती है।"

"मैं वहां लड़कियों के होस्टल में नहीं रह सकता।"

"आप कोई दूसरा घर किराये पर ले लेंगे तो मैं आ जाऊंगी।"

क्षण-भर सन्नाटा छाया रहता है।

"मुन्नी ?"···

लेकिन मुन्नी के बारे में वह क्या कहना चाहता है, वह तय नहीं कर पाता और प्रश्न हवा में लटका रहता है।

पत्नी क्षण-भर को रुकती है कि वह अपना वाक्य पूरा करे। फिर वह कहती है, "मुन्नी को मैं साथ ले जाऊंगी। आप फ़िक्र न कीजिए।"

"मुन्नी को भाभी नहीं छोड़ेंगी।" और वह किंचित् बेतुकेपन से हंसता है।

पत्नी उसका कोई उत्तर नहीं देती। केवअ सिर को कद्रे टेढ़ा कर और आंखें ज़रा तरेरकर उसकी ओर देखती है। उस भंगिमा में कुछ ऐसा है जो पुकार-पुकारकर कहता है—"वे कौन होती हैं मुन्नी को रखने वाली।'

अपार संयम से अपने-आप को रोककर और स्वर को यथासम्भव सामान्य बनाकर वह पूछता है :

"क्या फिर किसीने कुछ कह दिया ?"

उसकी पत्नी चुप रहती है।

वह स्वर को और भी मुलायम बनाकर पूछता है, "किसने क्या कहा है ?"

पत्नी चुप रहती है।

"क्या फिर कहा राजू की मां ने कि भाई साहब से मेरी जाति भिन्न है, या भाभी ने पहले मुझे गोद ले रखा था और अब मुन्नी को ले लिया है ?" और वह बेशर्मी से हंसता है।

पत्नी अब भी चुप रहती है।

"अरे, कुछ तो बोलो भाई।"

वह फट पड़ती है :

"मैंने होस्टल में रहने की बात की तो नीति बोली, 'भाभी, भाई साहब से भी पूछ लिया है ? वे कभी उस घर को छोड़कर नहीं आएंगे। वहां सबको ग़श आने लगेंगे।' "

वह अपने-आपको और नहीं रोक पाता :

"उस नीति साली का क्या है। यहां भाई साहब से थीसिस में मदद लेने के बहाने आने लगी थी। 'भाभी-भाभी' करते उसकी ज़बान नहीं थकती थी। मुझपर डोरे डालती थी। यहीं तख्त पर बिछ-बिछ जाती थी। (दिल में वह कहता है—उसीके कारण तुम यहां आई हो मेरी जान !) मैंने लिफ़्ट नहीं दी तो लगी बकने···और तुम इतनी भोली हो कि···"

"नीति ही की क्या बात है। कौन है जो यह बात नहीं जानता। सुनते-सुनते मेरे तो कान पक गए हैं। और मैं क्या अंधी हूं ? बहरी हूं ? क्या कुछ देखती-सुनती नहीं ? गांव से आने के कारण पहले दो-चार वर्ष कुछ संदेह भी रहा हो···लेकिन···आप ही सीने पर हाथ रखकर कहिए क्या लोग ग़लत कहते हैं ?"

"लोग साले जलते हैं।"

"काहे से जलते हैं ?" पत्नी बिफर पड़ती है। "जलने को है क्या ?··· कोई बड़ी नौकरी पा ली है ? बड़ा व्यापार जमा लिया है ? कोई बिल्डिग खड़ी कर ली है ? कि महान पुस्तक लिख डाली है ?···"

उसे बेहद क्रोध आता है, पर उसे रोककर वह बड़े आश्वस्त भाव से हंसते हुए कहता है—"सब होगा। सब होगा। आज सहयोगी संस्थान की वह स्कीम बनाई है कि प्रेस, साप्ताहिक और प्रकाशन साथ-साथ होगा। फिर बिल्डिग भी खड़ी होगी, कार भी आएगी और एक नहीं, कई उपन्यास

छपेंगे···आज ही मैंने एक बृहद उपन्यास की रूपरेखा बनाई है···"

पत्नी विद्रूप से हंसती है, "जब से मैं आई हूं कितनी स्कीमें नहीं बनीं? कितने उपन्यास आपने नहीं सोचे ? जब-जब कोई झगड़ा हुआ है, जब-जब यहां से जाने की बात उठी है, बड़ी स्कीम बन गई है और सपने लेने लगे हैं···बरसों से बेकार दूसरों की कृपा पर जी रहे हैं···लोग जलते नहीं··· लोग हंसते हैं···फब्तियां कसते हैं···मज़ाक उड़ाते हैं···"

वह क्षण-भर को रुकती है, फिर उसी रौ में कहे जाती है, "मेरा जी यहां नहीं लगता। यहां मेरा दम घुटता है। मेरी स्थिति इस घर में क्या है ? मैं यहां कौन हूं···आपकी पत्नी। पर आप तो कमाते नहीं और मेरी स्थिति रखैलों से भी बदतर है। इसीलिए मैंने नौकरी कर ली है। मैं यहां नहीं रह सकती। नहीं रह सकती···"

वह उसके स्वर में दर्द को पहचानता है। उसके स्वर में अतिरिक्त फुसफुसाहट और ख़ुशामद आ जाती है :

"तुम बेकार ज़्यादा सोचती हो। बेकार लोगों की बातें सुनती हो।"

"काश, मेरे दिमाग़ न होता। कान न होते। आंखें न होतीं। काश, मैं इतना न पढ़ती। तब शायद मैं सुख से रह लेती। आप ठीक कहते हैं, मैं बहुत सोचती हूं। मुझे अपनी ही नहीं, भाभी की स्थिति भी वैसी ही लगती है। पर वे मालकिन हैं। भाई साहब की स्थिति वैसी लगती है। पर वे मालिक हैं। आप···आप-आप मालिक न होते हुए भी मालिकों से ऊपर हैं। लेकिन मैं क्या हूं ? मैं कौन हूं ? मेरी क्या स्थिति है ?···"

उसकी आवाज़ दबी हुई चीख की हद तक ऊंची हो गई है। लेकिन उसमें क्रोध नहीं है। अनुनय है। अनुरोध है। समझाने की नैराश्य-भरी कोशिश है।

वह स्वर को और भी मुलायम बना लेता है : "तुम बेकार परेशान होती हो, कितना स्नेह मुन्नी को भाभी ने दिया है। तुम्हें पढ़ाया-लिखाया और इस योग्य बनाया है।···"

पत्नी चुप रहती है।

"तुम्हें नहीं मालूम भाभी ही तुम्हें यहां लाई हैं।"

"मैं जानती हूं। और यह भी जानती हूं, क्यों लाई और क्यों मेरे स्कूल

और कालेज जाने पर इतना ज़ोर देती रही है।"

"क्या तुम्हारे दिल में ज़रा भी माया-ममता नहीं ?" उसके स्वर में खीझ है। "पिछली बार जब तुमने मुन्नी को साथ लेकर गांव चले जाने की बात की थी तो भाभी को दौरा पड़ गया था।"

"मैं जानती हूं और यह भी जानती हूं कि आप मेरे साथ चलें तो भाई साहब को भी पड़ने लगेगा।"

वह अपना संयम खो देता है। "क्या बकती हो। देखता हूं चार अक्षर क्या पढ़ गई हो, अपनी औकात भूल गई हो।"

"औकात !" वह जैसे समझाने का प्रयास छोड़ देती है। उसके स्वर में अनुनय ग़ायब हो जाता है। कटुता उभर आती है और इस शब्द को उसके मुंह पर फेंकते हुए, वह जब आंखें उठाती है तो उसमें शोले लपकते हैं और जाने कैसा विद्रूप उसके होंठों को बिच्छू के डंक-सा वक्र कर देता है। "मेरी औकात तो आपके साथ है। जब आपकी कोई औकात नहीं तो मेरी क्या होती ?…"

वह क्षण-भर चुप रहती है। पति के शरीर का सारा रक्त उसके चेहरे की ओर दौड़ पड़ता है। वह विचलित नहीं होती और तीखे स्वर में कहती है :

"कभी आपने सचमुच हम लोगों की औकात पर ग़ौर किया है ?… अपनी, मेरी और उस बच्ची की ?…क्या आप सचमुच नहीं जानते, लोग क्या कहते हैं ?"

वह उत्तर के लिए रुकती है। पति का चेहरा क्रोध के मारे क्षण-क्षण लाल होता जा रहा है। लेकिन पत्नी के सामने जैसे वह क्रोध से लाल चेहरा नहीं है—एक निर्वीर्य, पीला, क्लीव चेहरा है।

"लोग साले तो खुदा को भी गालियां देते हैं।" वह क्रोध में चिल्लाता है, पर उसके स्वर में पत्नी को समझाने का भाव भी है। "लोगों की बात सुनें तो दो क़दम चलना मुश्किल हो जाए। फिर तुम्हारे लोगों में सबसे आगे है वह राजू की मां। परम असफल आदमी की परम असंतुष्ट बीवी- राजू का बाप मेरे ही साथ पढ़ता था। क्या कर लिया उसने ? साले स्कूलों, कालेजों और सरकारी दफ़्तरों में सड़ते हैं। दिन-भर झूठ बोलते और

खुशामद करते हैं और यहां किसी साले की नौकरी नहीं करते, किसीकी धौंस नहीं सहते। मस्त रहते हैं।"

"इसीका तो दुःख है।" पत्नी कहती है। "आप भी यदि दूसरों की तरह काम करते···लेकिन जैसे घरेलू औरत के मुक़ाबिले में रखैल आराम से रहती है, आप···"

वह संयम खो देता है। जैसे प्रतिक्षण संचित होता हुआ उसका क्रोध अपनी सीमा को पहुंच जाता है। ज़न्नाटे का एक थप्पड़ वह अपनी पत्नी को जड़ देता है। "टांगें तोड़ दूंगा यदि राजू की मां या नीति-फीति के यहां गई, इधर-उधर की बातें सुनीं और मुझे सुनाईं।···मैं साले किसीकी परवा नहीं करता। तुमको होस्टल में रहना है तो अभी जा रहो। मैं भाई साहब का रखैल हूं, तुम्हारे बाप का तो नहीं।"

और वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगता है।

भाई साहब पत्रकारों के साथ ही जा चुके हैं। भाभी रसोईघर में बैठी शाम की रसोई का प्रबन्ध कर रही हैं। चिल्लाहट सुनकर भागी आती हैं। लेकिन उन्हें दायें हाथ से परे धकेलते और रास्ते में पड़े पटरे को ठोकर लगाते हुए वह घर से निकल जाता है और तेज़-तेज़ चल देता है···रखैल ! शब्द हथौड़े-सा उसके दिमाग़ में चोट करता है।···वह और तेज़-तेज़ चलने लगता है।···रखैल···फिर उसके सिर पर चोट पड़ती है।···उसके क़दम और तेज़ हो जाते हैं।

वह बंगले से बहुत दूर निकल आया है। उसी तेज गति से। लेकिन न उसके पैरों में थकन है न पिंडलियों में दर्द। बार-बार वही शब्द उसे ठकोरता रहा है। उसकी पत्नी ने उसके जीवन का सारा झूठ उसके सामने रख दिया है। वह रखैल ही तो है। नितान्त निरीह केंचुआ और वह अपने को भयानक अजगर समझता था—बोआ कन्स्ट्रिक्टर ! वह अजगर भी है तो मलूकदास वाला अजगर है, जो चाकरी नहीं करता और राम भरोसे सोया रहता है।···उसे भाई साहब पर क्रोध आता है, जो उसे बहला-फुसलाकर ले आए थे और जिन्होंने उसकी सारी ज़िन्दगी चौपट कर दी। भाभी पर क्रोध आता है, जिसने उसे एक बार अपने चंगुल में जकड़ लिया तो फिर निकलने नहीं दिया।···उसकी आंखों में भाभी के निकटतम सम्पर्क में गुज़ारे

क्षण घूम जाते हैं।—वह गोरा गदराया तन और छोटी सुवक, पर भरी पुष्ट छातियां और रेशमी जांघें और गर्म रसीले होंठ और गहरी नशीली आंखें···और वह प्यार···वह दावानल-सा तपता और समेटता···ममता—नीली विशाल झील-सी गहरी और ठण्डी और खुनक···एक के बाद एक गुंजलक, मज़बूत से मज़बूततर, अटूट, इस्पाती···वह बोआ कन्स्ट्रिक्टर है। भाभी है। भाभी है। भाभी बोआ कान्स्ट्रिक्टर है। और उसकी गुंजलकों में फंसा वह नितान्त निरीह और नपुंसक पशु है। वह नपुंसक है। नामर्द है। मर्द होता तो कब का उस कुंडली को तोड़कर निकल जाता।···उसे अपनी पत्नी पर ग़ुस्सा आता है।···वह उसे एकदम ठस, बे-अकल और फूहड़ समझता आया है। वह कितनी तेज़ है! उन सबसे घोर नफ़रत करते हुए भी वह बड़ी निष्ठा और सतर्कता से उस गुंजलक से निकलने की योजना बनाती रही है। और उसकी इतनी हिम्मत हो गई कि जिन्होंने उसे इतना स्नेह दिया, पढ़ाया-लिखाया, उन्हें नितान्त हेय समझे और उसे, जो उसका पति है—रखैल कहे।···उसने उसका गला क्यों न घोंट दिया?···उसे उसी वक़्त उसका गला घोंट देना चाहिए था। कल्पना ही कल्पना में वह दोनों हाथों में उसकी गर्दन दबोचकर उसे धरती पर गिरा देता है और उसके सीने पर चढ़कर उसका गला घोंटता और उसका सिर ज़ोर-ज़ोर से फर्श पर पटकता है···तभी दूर गाड़ी की गड़गड़ाहट सुनाई देती है। वह अपने आपे में आ जाता है। दिल्ली को जाने वाली गाड़ी का टाइम है। हठात् उसके जी में आता है कि वह गाड़ी के आगे कूद जाए। इस बेकार असफल ज़िन्दगी के चंगुल से हमेशा-हमेशा के लिए निकल जाए··· तब उस गधी को भी पता चलेगा कि उसका मर्द नपुंसक नहीं है। एक बात के लिए वह ज़िन्दगी को तिनके की तरह उठाकर अलग फेंक सकता है। जाए वह होस्टल में। रहे वहां। सारी ज़िन्दगी वहीं गुजारे ···उसके मन में प्रतिशोध की प्रबल आग धधक उठती है और गाड़ी के आगे कूद जाने—पत्नी से यों प्रतिशोध लेने का ख़याल उसके दिमाग़ को जकड़ लेता है। वह आज़ाद होना चाहती है। हो आज़ाद। वह उसे ज़िन्दगी-भर के लिए आज़ाद कर देगा।···और वह अनायास भागने लगता है।

यद्यपि रेल की गड़गड़ाहट सुनकर, धोती को कमर में खोंस, वह एक

अंधे आवेग में सरपट भागने लगा था, लेकिन जब टंकी के मोड़ पर उसे सामने रेल का फाटक नज़र आता है और इंजन की ज़ोर की सीटी सुनाई देती है तो उसका दिल धक् से रह जाता है और उसकी चाल किंचित् मन्द हो जाती है। वह भागे जाता है, लेकिन उसे लगता है जैसे उसकी पिंडलियां पिघली जा रही हैं। वह फाटक से चन्द कदम इधर होता है कि उसके सामने से इंजिन धड़धड़ाता हुआ फाटक से गुज़र जाता है और फाटक तक पहुंचते न पहुंचते आधी गाड़ी निकल जाती है। एक डिब्बे पर उसे लाल पट्टी पर 'दिल्ली' लिखा दिखाई देता है, पर दूसरा शब्द वह पढ़ नहीं पाता। तभी एक गाड़ी के खुले दरवाज़े में खड़ा कोई लौण्डा उसकी ओर मुट्ठी बंधा हाथ बड़े भद्दे संकेत में झुलाता गुज़र जाता है।

वह फाटक पर कोहनी टिका लेता है और स्वप्न की-सी अवस्था में खड़ा गाड़ी को गुज़रते देखता है। सहसा पहियों के नीचे उसे अपने कटे हुए अंग तड़पते, छटपटाते दिखाई देते हैं—कभी कटा सिर, कभी तड़पता हाथ, कभी रह-रह फड़कता घुटना। हर डिब्बे के बाद उसे दोनों रेलें दिखाई देती हैं और उनपर छटपटाते उसके अपने अंग और लोहू से भरी लाइनें और पत्थर···कि गाड़ी गुज़र जाती है। फाटक उठता है। वह कोहनी हटा लेता है। डूबती धूप में चमकती नंगी लाइनें उसकी आंखों को चौंधिया जाती हैं। और फिर पों-पों करती बस और अगल-बग़ल भागते रिक्शे उस जगह को घेर लेते हैं।

वह पीछे हट जाता है। उसकी पिंडलियां बेतरह कांप रही हैं। फ़ुट-पाथ और नाले के बीच लम्बी घास की पट्टी है, जिसपर नाले के पार बंगले में लगे छतनार गुलमौर की छाया पड़ रही है। वह बढ़कर वहां बैठ जाता है। घास नम है। धोती के नीचे उसके चूतड़ गीले हो जाते हैं। वह परवाह नहीं करता। उसकी निगाह अपनी गोरी-गोरी नंगी पिंडलियों पर जाती है। बारीक भूरे-भूरे रोंगटे खड़े हो आए हैं। वह धोती को नीचे कर लेता है और नम घास पर लेट जाता है।···गुलमौर का आधा पेड़ लाल सिंदूरी गुंचों से लदा हंस रहा है और आधा वीरान और उदास जैसे अपने आधे भाग से विमुख है। एक उचटती नज़र उसपर डालकर वह आंखें बन्द कर लेता है···देखता है कि वह भागता जा रहा है और फाटक के

बराबर से निकलकर इंजिन के आगे कूद जाता है। इंजिन के आगे लगा लोहे का जालीदार काउकेचर उसे उठाकर और आगे फेंक देता है और गाड़ी उसके ऊपर से गुज़र जाती है।···दूसरी बार वह देखता है कि उसकी धोती काऊकेचर में फंस गई है और वह दूर तक घिसटता, कटता चला जाता है।···वह बार-बार तरह-तरह से अपनी मौत देखता है। उसे कुछ अजीब-सी लज़्ज़त उसमें मिलती है। वह आंखें खोल देता है और उठकर बैठ जाता है।···वह उठकर चल देना चाहता है। पर उसे अपार थकन महसूस होती है। वह फिर लेट जाता है। आंखें बन्द कर लेता है।··· इस बार वह देखता है कि वह रेल की पट्टी पर गर्दन टिकाए लेटा है और किसी स्लो-फ़िल्म की गति से इंजिन उसकी ओर बढ़ा आ रहा है। वह चाहता है पर उठ नहीं पाता। चीखना चाहता है पर चीख नहीं पाता। कुछ अजीब-से सम्मोहन में बंधा इंजिन को इंच-इंच अपनी ओर सरकते देख रहा है। वह एक खामोश चीख़ मारता है और आंखें खोल देता है। खुली आंखों भी वह क्षण-भर गाड़ी को अपने ऊपर से गुजरते हुए देखता है।···वह उठकर बैठ जाता है। उसका शरीर पसीने से तर है। दिल बेतरह धड़क रहा है। वह इधर-उधर देखता है। सड़क खाली है। फाटक खुला है और किसी गाड़ी के आने की कोई सम्भावना नहीं।···

अजीब बात है कि अपनी मृत्यु के इतने दृश्य देखते हुए उसे एक बार भी अपनी पत्नी, बच्चों, भाई साहब या भाभी का ख़याल नहीं आता। लेकिन जब वह उठकर बैठता हैं तो वे सब बारी-बारी उसके सामने आने लगते हैं।···वह देखता है कि भाई साहब पत्रकारों को छोड़कर वापस आते हैं। भाभी बताती हैं कि बचवा लड़कर क्रोध में घर छोड़कर भाग गए हैं। भाई साहब उल्टे पांव घर से निकलते हैं और उसे ढूंढ़ने के लिए चल पड़ते हैं।···घर जाए या न जाए, वह इसी असमंजस में खड़ा है कि भाई साहब उसे ढूंढ़ते हुए परेशान-हाल उधर आ निकलने हैं। सहसा उसे वहां देखकर वे हर्षोन्माद से बढ़कर उसे गले लगा लेते हैं और प्यार से बार-बार चूमे जाते हैं।···फिर वह देखता है—नहीं वे तो उसे खोजते हुए न जाने कहां निकल गए हैं। वही स्वयं घर पहुंचता है। उसकी पत्नी और बच्ची बाहर सीढ़ियों पर बैठी उसकी प्रतीक्षा कर रही हैं। पत्नी ने घर

छोड़कर होस्टल जाने का ख़याल हमेशा के लिए छोड़ दिया है। बरामदे में उसके क़दम रखते ही दोनों उससे लिपट कर रोने लगती हैं।···फिर वह देखता है—नहीं, वह होस्टल चली गई है। बच्ची को भी साथ ले गई है। केवल भाभी उदास सीढ़ियों पर बैठी उसकी प्रतीक्षा कर रही हैं।··· वह चुपचाप उनके पास से गुज़र, अन्दर चारपाई पर जाकर धम से लेट जाता है। भाभी उसके पीछे-पीछे आती हैं। उसके सिरहाने बैठकर वे उसके बाल सहलाती हैं। उसे तसल्ली देती हैं कि उसकी पत्नी और बच्ची वापस आ जाएंगी। जैसे भी होगा भाई साहब उन्हें जाकर ले आएंगे।··· सहसा वह उठकर बैठ जाता है और भाभी को बता देता है कि वह कैसे गाड़ी के आगे कटने से बाल-बाल बच आया है। भाभी सिहर उठती हैं और उसे बांह में भर कर अपने सीने से लगा लेती हैं···उसे लगता है कि भाभी का सीना कुछ ढलक आया है। पर उसे बड़ी राहत मिलती है। वह अपने-आपको ढीला छोड़ देता है और परम संतोष से आंखें बन्द कर लेता है।

सहसा वह आश्वस्त होकर उठता है। धोती की लांग ढीली होकर नीचे लटक आई है। अचेतन रूप से, जैसा कि उसका स्वभाव है, वह बायें पैर से उसे ऊपर उछालकर पीछे खोंस लेता है और धीरे-धीरे वापस चल पड़ता है।

१९६८

◇ ◇ ◇

यदि आप चाहते हैं
कि हिन्दी में प्रकाशित
नवीनतम उत्कृष्ट पुस्तकों का परिचय
आपको मिलता रहे,
तो कृपया अपना पूरा पता
हमें लिख भेजें।
हम आपको इस विषय में
नियमित सूचना देते रहेंगे।



राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली